दिल की बात

गुरुदयाल मलिक

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

दो शब्द

'दिल की बात' दिल से सुन लीजिए। यही विनती है। दिमाग़ को ज़लील करने की भला क्या ज़रूरत?

—गुरुदयाल मल्लिक

समर्पण

शान्तिनिकेतन के मोहन,
मोहिनी और मुन्ना को—
बहुत प्रेम के साथ।

—गुरुदयाल मल्लिक

परिचय

श्री गुरुदयाल जी मलिक का जन्म सीमान्त प्रदेश में हुआ। शिक्षा-दीक्षा पन्जाब और सिन्ध में मिली, और कार्यक्षेत्र समूचा भारत बना। वे सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण भारत के नागरिक हैं। रौलट ऐक्ट के बाद जिन भारतीयों को प्रथम बार बाहर से पन्जाब के भीतर प्रवेश करने का सुअवसर मिला था उनमें से प्रथम मलिक जी भी हैं। दीनबन्धु एण्ड्रूज के साथ उन्हें दुःख और अपमान से सन्तप्त पंजाब को अच्छी तरह देखने का मौका मिला था। वर्तमान युग की तीन महान् विभूतियों महात्मा गान्धी, कविवर रवीन्द्र और श्री सी० एफ० एण्ड्रूज के अत्यन्त निकटवर्ती होने का सौभाग्य मलिक जी को प्राप्त हुआ था और तीनों के विशिष्ट गुण उनमें वर्तमान हैं। मलिक जी प्रथम श्रेणी के देशभक्त, प्रथम श्रेणी के लोक सेवक और प्रथम श्रेणी के भगवद्भक्त हैं। भक्ति ने उनमें निरीह और निस्पृह भाव भर दिया है और उन्हें एक अनोखे ढंग की फक्कड़ाना मस्ती भी दी है। दूसरों के दुःख से दुखित और विचलित होने के सिवाय मलिक जी का कोई अपना दुःख नहीं है। वैसे एक बार उन्होंने उन भयंकर महामारियों का नाम गिनाया था जिनके आक्रमण उन पर हो चुके हैं। मुझे ठीक नामावली तो नहीं याद परन्तु साधारणतः महाकाल देवता की सेना के सभी प्रमुख सेनापति उनसे ज़ोर आज़मा चुके हैं। अर्श, श्वास रोग और रक्तचाप से तो उनका नियमित सामना होता रहता है। परन्तु मलिक जी हैं कि चेहरे पर शिकन नहीं जब रोग का आक्रमण हुआ तो सो लिए और ज़रा आक्रमण की आशंका दूर हुई तो पर जनों की सेवा में यथापूर्व जुट पड़े। शान्तिनिकेतन में वर्षों तक मुझे मलिक जी को निकट से देखने का मौका मिला है। वहाँ किसका बच्चा बीमार है, किसकी लड़की की शादी रुकी हुई है, किसकी पढ़ाई ख़तरे में

है, किसके घर का कर्ज़ा चुकाना है, किस पति-पत्नी में झगड़ा हुआ है---सबकी मीमांसा मलिक जी को करनी पड़ती थी। आश्रम में अत्यन्त निचली श्रेणी के कर्मचारियों---यहाँ तक कि मेहतर और सथालों से लेकर उच्चतर श्रेणी के अध्यापकों तक सबके दुःख दर्द में मलिक जी सदा सहायक रूप में वर्तमान रहते थे।

मलिक जी कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। अंग्रेजी के तो वे अध्यापक ही हैं। पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, उर्दू, हिन्दी और बंगला भाषाओं के वे जानकार हैं और थोड़ा-बहुत सभी साहित्यों में रस लेते हैं। हिन्दी में उन्होंने बहुत से भजन लिखे हैं जो सन्तों के गेय पदों के समान हैं। वस्तुतः मलिक जी जब भाव-विह्वल होकर गाते हैं तो उनका सर्वोत्तम रूप प्रकट होता है। इन गानों में हृदय की तड़प और आत्मा की अद्भुत व्याकुलता रहती है। महात्मा गान्धी उनसे भजन सुनकर बहुत पसन्द करते थे और गुरुदेव इन भजनों के प्रेमी थे। जिस प्रकार मलिक जी पर भारत के अनेक प्रान्तों की संस्कृति का प्रभाव है उसी प्रकार विभिन्न सन्त-साधनाओं का रंग भी उन पर चढ़ा हुआ है। मूलतः वे भक्त हैं परन्तु उन्हें सूफ़ी कहना अधिक संगत जान पड़ता है। शाह लतीफ़ और कबीर दोनों ने उन्हें रमाया है और रवीन्द्रनाथ के भक्तिपूर्ण संगीत ने तो उनको सम्पूर्ण रूप से भाव-मग्न किया है। इस प्रकार मलिक जी की सारी सेवाओं का रहस्य उनकी भक्ति-भावना में है। उनका सारा अस्तित्व श्रद्धा, विश्वास और प्रेम पर आधारित है।

जैसा कि पहले ही कहा गया है मलिक जी अंग्रेज़ी साहित्य के विद्वान हैं। प्रेमचन्द की कई श्रेष्ठ कहानियों का अनुवाद उन्होंने अंग्रेज़ी में किया है। उनके हिन्दी निबन्ध भी बहुत ही प्रेरणादायक हैं। सहज भाषा में हृदय की सच्ची भावनाओं को वे सचाई से व्यक्त करते हैं। इनमें मलिक जी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर आया है। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि साहित्य-भवन ने इन निबन्धों का प्रकाशन किया है। ये निबन्ध विभिन्न पत्रिकाओं में बिखरे पड़े थे। शान्तिनिकेतन के

भाई मोहनलाल वाजपेयी ने इन्हें नाना स्थानों से संग्रह करके प्रकाशन योग्य बनाया है नहीं तो मलिक जी ऐसे फक्कड़राम हैं कि जब उमंग आई तो लिखा और जब लिख गया तो काम खतम हुआ। उनके संग्रह करने के पचड़े में कौन पड़े। इसलिए वस्तुतः इस संग्रह के लिए वाजपेयी जी धन्यवाद के पात्र हैं। मेरा विचार है कि उन्होंने इन निबन्धों का संग्रह करके साहित्य की बहुत अच्छी सेवा की है। मलिक जी का न तो तन अपना है न मन ही। सब कुछ भगवान को अर्पित। ये निबन्ध भी शायद उन्होंने भगवान को ही अर्पित कर दिए थे। अब उम्मीद है कि वाजपेयी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह निवेदित निर्माल्य भी सहृदयों की मानस तृप्ति का साधन बनेगा।

काशी
३०-४-४७

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

जब समाज ने मुझे बाग़ी बना दिया !

वैसे तो हर रोज़ समाज में कई ऐसी बातें होती रहती हैं, जिनसे दिल उकता जाता है और समाज को छोड़ जंगल में जाकर रहने को जी करता है। मगर पिछले महीने जब मैं दिल्ली गया, तो वहाँ एक ऐसा वाक़या हुआ, जिसने मुझे सचमुच बाग़ी बना दिया और मेरे दिल से ये शब्द निकल ही पड़े—"अल्लाह, ऐसे समाज को तू तबाह ही कर दे !"

वह वाक़या यह था ! एक बहन को, जिसे पश्चिम पंजाब के कुछ लोगों ने अपने पति के घर से निकाल कर कहीं और छुपा दिया था, हाल में ही दिल्ली वापस लाया गया था। जब उसे अपने पति के घर पहुँचाया गया, तो उसकी सास ने उससे कहा—"निकल जा मेरे घर से। तू तो एक पापिन है।"

ये शब्द सुनकर मेरा तो दिल दहल गया ! और मुझे यीशू मसीह के वे शब्द याद पड़े, जो उन्होंने मेरी मागडलीन की तरफ इशारा करके वहाँ एकत्रित लोगों को कहे थे—"जो भी तुम में से पाप-रहित है, वह इस स्त्री पर पहला पत्थर फैंके !" काश, उपर्युक्त बहन की सास ने भी ये शब्द उस वक्त, जब उसने अपनी पीड़ित बहू का अपमान करके उसे घर से निकाल दिया, याद किए होते !

एक बहू से, खास कर के जो पीड़ित है, जिस समाज में ऐसा सलूक हो सकता है, वह जीने के लायक नहीं है, क्योंकि सच्चा मानव-धर्म तो वह है, जो सिखलाता है :—

कुफ्र काफिर रा, वा दीन दीन-दार रा,
क़तराए दुर्द-ए-दिल अत्तार रा।

अर्थात् नास्तिकों को उनका नास्तिकपन और धर्मवालों को उनका धर्म, मगर अत्तार (सूफी कवि) को तो चाहिए दिल के दर्द का एक क़तरा (बिन्दु)। उसे वही काफी है।

फिर मुझे पैग़म्बर महम्मद की जिंदगी का एक किस्सा याद पड़ा। एक दफा उनकी बीबी ने उन्हें एक 'बुरे' आदमी के साथ बातचीत करने पर कुछ बुरा-भला कहा। उस पर पैग़म्बर साहब ने जवाब दिया—"मैं तो उसे बुरा आदमी कहता या समझता हूँ, जो किसी और को अपने दिल में बुरा समझता है और उससे दूर रहता है।"

हमारे समाज की ऐसी बेरहमी ही है, जिसने गांधी जी को, गुरुदेव को बाग़ी बनाया और जिससे हमें भी बाग़ी बनना चाहिए। उसके बिना और कोई भी चारा नज़र नहीं आता।

मैं नई-दिल्ली गया और रोया !

पिछले मार्च में मैं नई-दिल्ली गया, मेरे दिल में बड़ी उमंगें और उम्मीदें थीं, क्यों कि मैं अपने आज़ाद मुल्क की राजधानी देखने जा रहा था। वहाँ मुझे नये हिन्द की एक झलक ज़रूर मिलेगी, ऐसा मुझे बार बार लगा।

मगर वहाँ पहुँचने पर ही मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं चारों तरफ आग के शोलों से जैसे घिरा हुआ हूँ। गला घुटने लगा, दिल में दर्द होने लगा।

इसका क्या कारण था ? एक ही, कि नई-दिल्ली में मुझे नये हिन्द की एक भी झलक नज़र न आई। वहाँ के लोग पहले की तरह ही मौज-शौक़ की दुनिया में बसते हैं। साहब लोगों की तरह पोशाक पहनते हैं, क्लब घरों में जाते हैं, रमी (एक क़िस्म का ताश का खेल और वह भी बतौर जुए के) और रम (शराब) के नशे में चूर होकर रात को घर लौटते हैं। उनका अहंकार ज़रा भी कम नहीं हुआ। उनकी बहुएँ और बेटियाँ लिपिस्टिक (ओठों का रंग) और नाख़ूनों पर अब भी रंग लगाती हैं। उनके बच्चे अपने माँ बाप को 'ममी' और 'पापा' कहते हैं। और बात-बात में अंग्रेज़ी शब्द बोलते हैं। उनकी ज़िन्दगी से सादगी और सच्ची मोहब्बत, जिसका सबूत सिर्फ़ हमदर्दी और सेवा में ही मिल सकता है, हज़ारों मील दूर है। यह सब देखकर मैं रोया, मगर मैं ज़ार-ज़ार रोया जब कि मैंने सरकारी दफ्तरों में सीधी-सादी अपनी देशी पोशाक पहनने वाले भाइयों के साथ जो बेपरवाही का सलूक होता है वह देखा। आप अपना कोई भी काम बग़ैर रिश्वत और रुसवाई के नहीं करा सकते।

सरकारी दफ्तरों में इस क़िस्म की लूट और शहर में दूसरी तरह की लूट चल रही है। टाँगे वाले और टैक्सी (मोटर) वाले सीधे-सादे ग़रीब

लोगों की चमड़ी ही उधेड़ लेते हैं। एक बीमार आदमी जो क़रोलबाग़ में रहता था, उससे मिलने के लिए टैक्सी वालों से पूछा कि वह कनॉट सरकस से जाने का क्या किराया लेंगे। तो कोई २५) रु० से कम पर जाने को तैयार न हुआ। और टाँगे वाले ५) और ७) रु० की बात करने लगे। अगर कोई पूछे कि 'बस' गाड़ी में क्यों न सफ़र किया गया तो उसका जवाब यह है कि पहले तो बस हर जगह दिल्ली में जाती नहीं और दिल्ली में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए कितना फ़ासला काटना पड़ता है वह तो सबको बख़ूबी मालूम है ही। और नई दिल्ली के रास्ते ! उनसे तो सर चक्कराने लगता है।

अस्पताल में भी यही हाल है। इलाज करवाना हो तो जेब कटवानी पड़ती है क्यों कि अस्पताल को वहाँ के काम करने वालों ने एक टकसाल (पैसा बनाने का कारख़ाना) बना रखा है। अगरचे उसे एक ख़ुदा का घर नहीं तो खाला का घर तो ज़रूर ही होना चाहिए।

आज़ादी के बाद अपने लीडरों से मिलना तो ऐसा मुश्किल हो गया है जैसे जेल में किसी क़ैदी से मिलना। पहले वे हमारे प्रेम के क़ैदी थे अब वे पुलिस के क़ैदी हैं ! दिन-रात और जहाँ भी वे जाते हैं बस पहरा ही लगा रहता है।

नई-दिल्ली के रहने वालों के बड़े-बड़े मकान जिनमें सिर्फ़ तीन या चार आदमी रहते हैं और पुरानी दिल्ली जहाँ एक-एक छोटी अँधेरी कोठरी में पाँच से दस तक लोग रहते हैं। इन दोनों के बीच का फ़र्क़ देख कर दिल जल उठता है।

इन सब बातों के कारण मैं जितने दिन नई-दिल्ली में रहा एक भी दिन ऐसा न था जब मैं न रोया हूँ। हो सकता है, कि इसकी तह में गांधी जी की ग़ैर मौजूदगी का दुख भी रहा हो क्योंकि पहले एक-दो बार जब भी मैं नई-दिल्ली गया तो गांधी जी के दर्शन का मौक़ा मुझे हर एक बार मिला, क्योंकि उनका दिल और दरबार तो हमेशा ही खुला रहता था। काश ! कि हमारे सरकारी दफ़्तरों में काम करने वाले और बाक़ी

लोग भी अपना दिल और दरवाजा हमेशा खुला रख सकते ! तब तो हमारा देश एक स्वर्ग बन जाता ! अब तो नई-दिल्ली स्वराजस्थान नहीं बल्कि स्वार्थस्थान बनी हुई है।

एक ज़माना था जब हिन्दुस्तान में 'दिल्ली अभी दूर है' का नारा सुनने में आता था। इसके बाद 'दिल्ली चलो' का नारा सुनने में आया और अब जब दिल्ली पहुँच गए हैं तो उसकी मौजूदा हालत देखकर दिल बार-बार पुकार उठता है 'दिल्ली से दूर चलो'।

बात यह है कि नई-दिल्ली में अब तक न तो सरकारी रवैया बदला है और न ही लोगों का चाल-चलन। आज़ादी एक पवित्र चीज़ है। उसका ख्याल ही अभी तक लोगों को सही तौर पर नहीं।

दिल्ली में हज़रत ईसा !

हज़रत ईसा के 'रिज़रक्शन' अर्थात् उनके फिर से जमीन पर आने का दिन था। सुबह का वक्त था। हज़रत ईसा के आने की ख़ुशबू फैली हुई थी। अपने अनुयाइयों की लापरवाही की धूल से उपर उठकर हज़रत ईसा फिर जमीन पर उतर आए। बसन्त ऋतु की हवा ने उनसे दिल्ली शहर का एक चक्कर लगाने के लिए कहा। सूक्ष्म शरीर धारण करके वे राजधानी की सड़कों और गलियों में घूमने लगे। वे सबको और सब चीज़ों को देखते थे। पर उन्हें उस भीड़-भाड़ में कोई न देख पाता था। क्योंकि सब लोग लड़ाई जीतने के सबसे महत्त्वपूर्ण काम में लगे हुये थे। इसलिए उनकी नज़र 'दी प्रिन्स आफ़ पीस' (शान्ति के सम्राट) पर जा ही कैसे सकती थी !

जानबूझ कर वे पहले 'नई दिल्ली' गए, क्योंकि 'नई दिल्ली' नाम से उन्हें यह ख़याल हुआ कि वहाँ के रहने वालों का कारबार, उनकी ख्वाहिशों और उनके आदर्शों में एक नयापन होगा। किन्तु अंग्रेजी मुहावरा है कि लड़ाई में आदमियों और चूहों सब की क़ीमत बदल जाती है। हज़रत ईसा सैक्रेटेरियट की चहारदीवारी के अन्दर के 'पाक' मैदान में घुसे ही थे कि वहाँ के काम करने वालों की पोशाक के रंग को देखकर वह हक्के-बक्के से रह गए। उनमें से ज़्यादहतर ख़ाकी पहने थे। क़ुदरती तौर पर हज़रत ईसा ने यह नतीजा निकाला कि इनसानी कौम ने अभी तक लड़ने को ही अपनी मिली-जुली समाजी जिन्दगी का ख़ास असूल बना रखा है। उसने अभी इसे छोड़ा नहीं है। हज़रत ने बड़ी गहरी दर्दभरी आवाज़ से कहा—"क्या मैं सचमुच फिर से ज़मीन पर आ गया हूँ ? मेरे उन शब्दों का कि 'मैं दुनियाँ में शान्ति नहीं लाया बल्कि एक तलवार लाया हूँ' यह कैसा अफ़सोसनाक अर्थ लगाना और उनका

कैसा दुरुपयोग करना है ! मैंने तो उस तलवार का ज़िक्र किया था जो स्वार्थ और ख़ुदग़रज़ी की गिरहों को काट डालेगी और लोगों की रात-दिन की ज़िन्दगी को आत्मत्याग और आत्मबलिदान की रचनात्मक भावना के रंग में रँग देगी।" यह कहकर हज़रत ईसा ने अपना दाहिना हाथ उठा कर अपने मुँह पर रखा। मैं समझता हूँ उन्होंने अपने उन आँसुओं को पोंछने की कोशिश की जो—इस ख़याल के सामने आते हैं कि मेरा ज़मीन पर आना मालूम होता है व्यर्थ गया—उनकी आँखों के अन्दर न रुक सके !

इसके बाद वह राजधानी के आसपास की ग़रीबों की बस्तियों में गए। वहाँ भी उन्हें वही गन्दगी और भूख दिखाई दी। वह नीची छत के एक टूटे-फूटे झोंपड़े के सामने रुक गए। दरवाज़े पर एक बुढ़िया चीथड़े लपेटे बैठी थी। उसके गाल पिचक गए थे और आँखें अन्दर को गड़ गई थीं। हज़रत ईसा देखकर चिल्ला पड़े—"हाय! मेरे बच्चे अभी तक भूखे और आधे नंगे फिरते हैं! कितने दिन हुए जब मैंने यह कहा था कि 'भूखों को रोटी देना और नंगों को कपड़ा देना ही मुझे रोटी देना और मुझे कपड़े पहनाना है।' मालूम होता है कि लोगों ने मेरे कहने की बिलकुल परवाह नहीं की। इसके कहीं ज्यादह अच्छा हो कि ये ऊँचे-ऊँचे गिरजे गिराकर ज़मीन के बराबर कर दिये जावें और श्रद्धालु लोग हर सप्ताह या हर रोज़ खुली पहाड़ी पर जाकर या नदी के किनारे खड़े होकर मेरे पिता परमात्मा की पूजा कर लिया करें, बजाय इसके कि उस रईस के बिगड़े हुए बेटे की तरह जिसका इंजील में ज़िक्र आता है, धन को इस तरह फ़ज़ूल ख़र्ची में बरबाद किया जावे और मुहताजों और गिरे हुओं को पेट भर खाना भी न मिले।" यह कहकर हज़रत ईसा ने एक ठंडी साँस भरी जो बसन्त की हवा में गूँज गई।

इन बस्तियों से निकलकर हज़रत ईसा व्यापार के गंजे हुए छत्तों और कटरों में पहुँचे। वहाँ बेशुमार बैंकों के अन्दर चाँदी के ढेर लगे हुए थे और चाँदी का लेन-देन हो रहा था। हज़रत ईसा ने हैरान और दुखी

होकर अपनी आँखें मलीं और फिर देखकर कहा—"ख़ुशहाली का जो आदर्श मैंने इन लोगों के सामने रखा था उसका यह कितना ग़लत मतलब निकाला गया है। मैंने इनसे कहा था कि अपने लिए इस तरह का ख़ज़ाना स्वर्ग में जमा करो जिसे न जंग लग सके और न चोर चुरा सके। पर इन लोगों ने क्या कर डाला। इन्होंने मेरे कहने का उलटा किया।"

इसके बाद हज़रत ईसा तेज़ी से लौट पड़े। चेहरे से मालूम होता था कि वह अभी तक किसी धोखे में थे। अब वह उनका धोखा दूर हो गया। निराशा और दुख के कोहरे ने थोड़ी देर के लिए उनके चेहरे के चारों ओर की ज्योति को फीका कर दिया, उनके पैरों के कोमल तलुवे झुलसती हुई जमीन को न सह सके। पल भर के अन्दर वह हवा में उठते नज़र आए। जब वह ऊपर की तरफ़ उड़े चले जा रहे थे एक 'स्पिट फायर' जंगी हवाई जहाज़ उनके रास्ते में पड़ गया। वे उसे देखकर चिल्ला पड़े—"उस 'डव आफ़ पीस' का, 'शान्ति की उस फ़ाख्ता' का जिसे ईश्वर ने अन्धकार में डूबी हुई मनुष्य जाति के लिए एक बरकत और बरदान के तौर पर भेजा था यह कैसा उलटा रूप है!"

हज़रत ईसा तुरन्त नज़र से ग़ुम हो गए। दिल्ली के रास्तों के उन पत्थरों से, जो लोभ और ऊपरी चमक-दमक के सुनहरे रंग में रँगे हुए हैं, आवाज़ निकली—"अभी तक ज़मीन पर कोई जगह ऐसी नहीं है जहाँ आदमी का बेटा अपना सर टेक सके।"

मालूम होता है हज़रत ईसा अभी क़ब्र ही में हैं, अभी उन्होंने फिर से जन्म नहीं लिया।

पृथ्वी जिसकी पादुका

पहाड़ की चोटी पर एक युवक सवेरे से ध्यान में बैठा था, उसके चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि वह आकाशवाणी सुनने की प्रतीक्षा कर रहा है, क्योंकि उसकी पेशानी पर एक अलौकिक रोशनी दिखाई दे रही थी, वह घंटों तक आत्मा के मौन और आनन्द में मग्न रहा।

आख़िर उसने अपनी आँखें खोलीं। उसकी निगाह सबसे पहले एक काश्तकार पर पड़ी जो उस वक्त नीचे एक छोटे से खेत में हल चला रहा था। वह हल चलाता जाता था और किसी अदृश्य आनन्द में विभोर हो कर गीत ललकार रहा था। उसके अङ्ग पर सिर्फ एक लङ्गोटी थी। मगर वह लङ्गोटी क्या थी, वह सच्ची जानतोड़ मेहनत की एक सुन्दर प्रतीक थी जिससे दुनिया के शहंशाह को भी इर्ष्या होती है, क्योंकि काश्तकार की लंगोटी तो तंदुरुस्ती की एक तावीज है, और बादशाह तो आराम के इतने सामान मुहैया होने पर भी बेआरामी में रहता है।

जब दुपहर हुई तब काश्तकार ने हल चलाना कुछ वक्त के लिये बन्द कर दिया और एक दरख़्त की छाया में विश्राम करने के लिये लेट गया। फिर उठकर उसने भोजन किया। भोजन तो सादासूदा था मगर क्योंकि उसे उसकी स्त्री ने अपने प्रेम भरे हृदय और हाथों से बनाया था, उसका अमृत जैसा स्वाद था।

भोजन पूरा करने पर काश्तकार ने अपना हल एक बार फिर चलाना शुरू किया और उसकी खादीपोश स्त्री अपने घर वापस चली गई।

जब शाम आई तब काश्तकार ने अपना दिन का काम ख़तम किया और आनन्द से उड़ते हुए पावों से वह घर की तरफ हो लिया। मालूम नहीं क्यों वह अभी कुछ दूर ही गया था कि उसने ऊँची आवाज में एक गीत, जो उसे बहुत ही प्यारा था, गाना शुरू किया, गीत के शब्द यह थे—

नमूं उस ब्रह्म को जो सब से महान ॥
पृथ्वी जिसकी पादुका,
अंतरिक्ष शरीर।
सूरज चाँद आँखें
और सिर आसमान ॥
ज्योति जिसकी बानी
दिशा जिस के कान।
पवन जिस का प्राण;
जो सब में समान ॥

जब युवक ने—जो अब तक पहाड़ की चोटी पर ही बैठा हुआ था—यह गीत सुना तो उसका दिल फौरन पुकार उठा, "यही तो है आकाशवाणी जिसकी मैं आज तक इन्तज़ार कर रहा था। मुझे आज मेरा जीवन-मंत्र मिल गया। मैं तो ब्रह्म की पादुका की ही सेवा करूँगा। जैसे भरत ने रामचंद्र जी की पादुका की सेवा की थी। कल से मैं भी हल चलाना शुरू कर दूँगा, क्योंकि उस काश्तकार को देख कर मुझे आज पूरा विश्वास हो गया है कि हल चलाने में ही-सूफी भक्त जिसे हाल कहते हैं, अर्थात् हस्ती की मस्ती, उसका अनुभव हो सकता है।"

फिर वह पहाड़ की चोटी से नीचे उतर आया, जब वह पृथ्वी पर पहुँचा तो उसने अपना सिर बड़ी नम्रता से उसके सामने झुकाया और कहा, "धन्य है तू पृथ्वी, तू है प्रभु की पादुका, आशीर्वाद दे कि मैं तेरी सेवा में दिन-रात लगा रहूँ।"

अपने दिल से एक-दो बातें

शाम का वक्त था, मैं समुन्दर के किनारे गोशए ख़ामोशी में इस तरह से ख़ुश और सही सलामत बैठा था जैसे कि एक नन्हा-सा बच्चा अपनी माँ की गोद में बैठा हुआ होता है और मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि मैं बादशाहों के बादशाह का ख़ूबसूरत ग़ैबी महल उस गोशे से देख रहा था।

यकायक किसी ने मेरे अन्दर से मुझ से पूछा—

"क्यों मियाँ, आराम का मतलब तुम्हें मालूम है?"

यह सवाल सुनकर मैं ज़रा हँस पड़ा क्यों कि मैंने अपने आप से कहा कि "यह भी भला कोई पूछने का सवाल है? आराम का मतलब आराम और क्या?"

जो मेरे अन्दर बैठा हुआ था, उसने ऐसा मालूम होता है मेरी यह छिपी हुई बात भी सुन ली और क्यों न सुनता, क्यों कि उसकी आँखें और उसके कान तो बन्द होते ही नहीं।

फिर मेरे कानों पर किसी के गाने की आवाज़ आ पहुँची मैंने गाने वाले को तो न देखा मगर उसके गीत की एक सतर जो वह बार-बार गा रहा था, मैंने अच्छी तरह से और साफ़ तौर पर सुनी।

"यह प्रीति की रीति नहीं तेरी, वह जागत है तू सोवत है।"

तब मेरे दिल में एक सवाल उठा—"क्या प्रेम करना हमेशा ही जगे रहना है?"

मेरे दिल के ज़नाने में जो परदानशीन है उसने जवाब दिया—"हाँ", फिर ज़रा रुक कर उसने कहा—"अरे मियाँ, मैंने तो तुम्हारे सवाल का जवाब दे दिया तुम भी तो मेरे सवाल का जवाब दो।"

"तुम्हारा कोई सवाल है? और फिर जनाब उसका जवाब माँगते हैं?"

"अरे मियाँ, गुस्सा मत हो, अगर तुम्हें जवाब नहीं मालूम तो साफ़-साफ़ कह दो कि जवाब नहीं जानते !"

"तो ऐसा ही सही, मैं तुम्हारे सवाल का जवाब नहीं जानता, क्या अब तुम्हारी तसल्ली हुई ?"

"हाँ, तो मैं तुम्हें जवाब बताता हूँ। 'आराम लफ्ज़ दो लफ्ज़ों से बना हुआ है—'आ' और 'राम'। उसका मतलब हुआ सच्चा आराम "आ-राम" "आ-राम" कहने में है और करने में।"

मैं यह मतलब "आराम" का सुनकर कुछ हैरान सा हो गया इसलिये मैंने पूछा, "मुझे तो मेरे मक़तब में ऐसा मतलब कभी नहीं बताया गया था—अच्छा जो हो, सो हो 'आ-राम' 'आ-राम' मैं कह तो लिया करूँगा लेकिन तुम्हें यह मुझे समझाना होगा कि मैं ऐसा कर कैसे सकूँगा क्यों कि तुमने तो 'आ-राम' 'आ-राम' करने को भी तो कहा है ?'

"हाँ, मैंने कहा है और उसका मतलब यह है कि जो कुछ भी काम तुम करो उसे ऐसे तौर से करो कि वह राम के लायक़ है और तुम उस काम को राम के लायक़ एक घर समझ कर दिल से उसे कह सको 'आ-राम' 'आ-राम' समझे ?"

"मैंने समझ तो लिया मगर उस पर अमल करना मुझे तो बहुत मुश्किल मालूम होता है।"

"तो उसका भी तुम्हें एक आसान रास्ता बता दूँ मियाँ, अगर चाहो तो !"

"ज़रूर, ज़रूर" मैंने जवाब दिया।

उसने कहा, "दिल को छोड़ो और दिल को पकड़ो।"

"मैंने अर्ज़ की, ज़रा इसे आसान कर दीजिये !"

"ख़ुशी से जिन्दगी तो एक बाज़ी है न; कबीर साहब का वह भजन तुम्हें याद है जिसमें वह कहते हैं कि जिन्दगी एक चौपड़ की बाज़ी है, मगर यह खेल अजीब है, अगर तुम हारते हो तो भी प्रीतम के हो जाते हो और अगर जीतते हो तो प्रीतम तुम्हारा हो जाता है, हर हालत में

तुम्हें प्रीतम तो मिल ही जाता है।" इसी तरह से मैं तुम्हें कहता हूँ मियाँ, "पार्टीबाज़ी छोड़ो, प्रेमबाज़ी खेलो।"

इतने में मुझे कुछ शोरोशर सुनाई दिया, जहाँ मैं बैठा हुआ था वहीं से ज़रा दूर लोगों का एक हुजूम दिखाई दिया था। कई लोगों के हाथों में क़िस्म-क़िस्म के झंडे थे और ज़ोर ज़ोर से नारे लगा रहे थे "—ज़िन्दाबाद" "—ज़िन्दाबाद" "—ज़िन्दाबाद" मैं अपने गोशए ख़ामोशी से निकल कर घर वापिस आया और बार-बार मुझे यह ख़याल आता रहा, "दिल की बात रुपए में सोलह आना सच है।"

मैं तो यहाँ सिर्फ़ एक मेहमान हूँ !

कुछ दिन हुए कि बम्बई में समुन्दर के किनारे जोहू के पास जिस आलीशान मकान में एक दोस्त के यहाँ मैं रहता हूँ वहाँ एक दोस्त अपनी मोटर में मुझे मिलने आये। अपनी मोटर से उतरते ही उन्होंने मकान की तरफ़ एक नज़र करके कहा—"आप का यह मकान तो बड़ा आलीशान है।

मैंने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर जवाब दिया—"मगर मैं तो यहाँ सिर्फ़ एक मेहमान हूँ !"

फिर थोड़ी देर के बाद कुछ बात चीत करके वह तो अपने घर चले गये। मगर मेरे कानों में "मैं तो यहाँ सिर्फ़ एक मेहमान हूँ !" यह शब्द बहुत देर तक गूँजते रहे।

एकाएक मुझे ईशोपनिषद् का पहला मंत्र—जो गांधी जी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर दोनों का बहुत प्यारा ध्यान-मन्त्र था—याद आया। जिसमें ऋषि कहते हैं कि यह सारा जगत् प्रभु से ढका हुआ है इस लिये इन्सान को चाहिये कि वह जो कुछ भी पाये उसका भोग वह त्याग भाव से करे। आसान शब्दों में इसका मतलब इतना ही होता है कि वह किसी भी चीज़ का मालिक नहीं है बल्कि सिर्फ़ "ट्रस्टी" यानी उसकी सँभाल करने वाला है या यों कहिये कि यह दुनिया एक सराय है जिसमें इन्सान सिर्फ़ कुछ दिनों के लिये एक मेहमान है अगरचे इस सराय में वह बार-बार आता है।

अगर रोज़ाना ज़िन्दगी में हम सब ऐसा समझकर चलें तो जो हमारा सब से बड़ा दुश्मन है—यानी लोभ—उससे हम बच कर रह सकते हैं। इस दुश्मन ने क्या ऊधम मचा रक्खा है यह बात सब अच्छी तरह जानते हैं। पचीस बरस में दो बड़ी लड़ाइयाँ इसके कारण ही हुई

हैं । हमारे देश का बँटवारा भी इसी के कारण हुआ है । बहुत से घरों में फूट-फाट भी यही लोभ महाशय करवाते हैं । यही तो एक बड़ा कारण है कि जहाँ देखिये अशान्ति ही अशान्ति नज़र आती है ।

कोई कहेगा यह सब कहना आसान है पर उस पर अमल करना आसान नहीं । यह बात ठीक है मगर उस पर अमल करने के तरीक़े को ही तो धर्म कहते हैं और इसी लिये तो इन्सान धर्म के बिना नहीं जी सकता । जैसा कि गांधी जी बार-बार कहा करते थे—"मैं ख़ूराक और पानी के बिना जी सकता हूँ लेकिन प्रार्थना के बिना एक पल भी नहीं जी सकता ।"

यह सच है क्योंकि प्रार्थना आत्मा की ख़ूराक है । प्रार्थना कोई योग्य की करामत नहीं है, बल्कि जीवन की एक कीमिया है ।

मगर प्रार्थना का मतलब क्या है ? प्रभु को याद करना और सब कुछ इस संसार में उसका है, इसको हमेशा याद रखना ताकि कभी भी अगर हो सके तो लोभ की वृत्ति प्रबल न हो उठे और वह उधम मचाना शुरू न कर दे ।

और यही बात ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र हमें सिखलाता है :—

सब कुछ तेरा तू है मेरा
मैं नाहीं और, कुछ नहिं मेरा

विश्वास

विश्वास की व्याख्या क्या है ? धर्मशास्त्रों की दृष्टि से नहीं, मगर 'मियाँ मिट्ठू' की नज़रों में ?

सच्चा ज्ञान हासिल करने के कई तरीके हैं, मगर दो मुख्य हैं—एक है विचार का और दूसरा है व्यंग्य का। परन्तु, व्यंग्य के रास्ते पर चलना पण्डित लोग अक्सर पसंद नहीं करते। उनकी राय में ज्ञानी होना या तो अभिमानी, नहीं तो आसमानी होना है। वे भूल जाते हैं कि उपयोगी और असली ज्ञान तो उसके पास ही हो सकता है, जो पहले बनता है इनसान।

इनसान का अर्थ है डंस करना, औरों से प्रेम करना, औरों के साथ रिश्ता रखना। अगर ज्ञान ऐसा प्रेम-युक्त बंधन नहीं सिखाता है, तो वह व्यर्थ है। इसीलिए ही तो सरल स्वभाववाले और सादा-सूदा लोग कहते हैं कि एक पण्डित बनना प्रायः एक पत्थर बनने के समान है। जिस दिल में दर्द नहीं, वह पण्डित हुआ, तो क्या हुआ !

क्यों ? ज्ञानी अक्सर अहंकारी होता है और वह औरों में विश्वास खो बैठता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह विश्व के साथ प्रेम का नाता जोड़ने में असमर्थ होता है।

इसीलिए 'मिश्राँ मिट्ठू'—अर्थात् साधारण अज्ञानी, मगर जिसे व्यंग्य के रास्ते पर सच्चे ज्ञान के दर्शन हुए हैं—पण्डित लोगों को समझाते हैं:

'सुनो ज्ञानी जी महाराज, आपने अपने दिमाग के सब दरवाजे तो खुले रखे हैं, मगर दिल के दरवाजे तो अब तक भी बन्द हैं। आप इस तरह कैसे जी सकते हैं ? क्या आपका गला नहीं घुटा जाता ? अगर आपको सही तरह से जीना है, तो दिल के सब दरवाजे खोल दीजिये; क्योंकि तभी तो विश्व के साथ आपका लेन-देन ठीक चल सकेगा। दूसरे शब्दों में

अगर कहूँ, तो आप विश्वास करना सीखिए। विश्वास का अर्थ आप कुछ भी करते हों, मगर मैं तो उसका अर्थ ऐसे करता हूँ— विश्व में आस रखना है विश्वास। और विश्व में आस रखना है हर एक व्यक्ति में ऐसी आस या आशा रखना कि उसमें एक ऐसी सार्वभौमिक या दैविक शक्ति समाई है, जिसे बाहर लाना है, जिसके विकास में हमें मददगार होना है। हाँ, एक और बात भी याद आ गई। विश्वास का मतलब है विस्तार में श्वास लेना, केवल अपने में ही बद्ध रहना मौत है, मगर जो विस्तार है उसमें रहना, श्वास लेना, ही सच्चा जीवन है।'

जब 'मिट्ठू मियाँ' की विश्वास की यह व्याख्या पंडित लोग सुनते हैं, वह क्रोध में कह उठते हैं—'वाह, अन-पढ़ पंडित साहब, आपने खूब कही। आप अब एक अविद्यालय खोलिए।'

ज्ञानी और 'मियाँ मिट्ठू' का ऐसा वार्तालाप सुनकर प्रभु जो ज्ञान और अज्ञान से परे है, खूब हँसता है। शायद इसलिए कि पंडित लोगों का पत्थर-दिल व्यंग्य की आग से भी नहीं पिघलता!

रोशनी

"रोशनी क्या है ?"

यह सवाल एक सुबह मैंने सूरज से पूछा। जवाब मिला, "अपने आप को देना।"

उसी शाम को ये ही सवाल मैंने एक छोटी मोमबत्ती से पूछा उसने भी मुझे ऐसा ही जवाब दिया।

फिर मैंने उन दोनों से पूछा, "अपने आप को देना, इसका क्या मतलब ?"

जवाब मिला, "हमेशा जलते रहना।"

"कौन सी आग में ?"

"अहंकार की आग में।"

"वह आग तो भस्म कर देती है ?"

"तब ही तो रोशनी का जन्म होता है," सूरज और मोमबत्ती दोनों ने मेरे आख़री सवाल का उत्तर दिया, कुछ वक्त के लिये मैंने जब उनके जवाब पर विचार किया तो मुझे मालूम हुआ कि बात तो बिलकुल ठीक है।

अहंकार आग-समान है। और आग की तरह ही उसके दो गुण हैं, एक गरम करना और दूसरा रोशनी देना। अगर अहंकार की गरमी हम अपने लिये रखें और उसकी रोशनी दूसरों के लिये तो सूरज और मोमबत्ती की तरह हम भी जहाँ भी हो और जिस किस्म का काम करते हों, औरों को अपनी जीवन-बत्ती की रोशनी दिये बग़ैर रह ही नहीं सकते।

मगर सवाल उठता है, "हम अहंकार की आग में जलें क्यों ?"

तो उसका जवाब हम को रोशनी-मस्त परवाने से मिलता है, "जलने में ही मज़ा है।"

मगर परवाने की तरह अपने आप की आहुति देना कितने लोग जानते हैं या देना धर्म समझते हैं ? आजकल तो अपनी ख़ातिर औरों को भस्म कर देना, ये ही जीवन का ध्येय मालूम होता है। इसीलिए ही तो जगत् एक भड़कती आग की तरह हमें खाने को आता है और ऐसा

प्रतीत होता है जैसे किसी ने सर्वत्र आग लगा दी हो ।

मगर यह आग तो देवाले (देवालय) की आग है, न कि दिवाली की या कि एक पुण्य-यज्ञ की रोशनी ।

अब इस देवाले की आग को दिवाली की रोशनी में बदल देने का तरीका एक ही है और वह जो गांधीजी, बुद्ध भगवान् की तरह हमें एक बार फिर दिखला गये हैं ।" अर्थात्, अपने अहम् की गरमी को अपने आप पर खर्च कर देना और उसकी रोशनी को ही सिर्फ औरों को देना ।

मोमबत्ती अपने आपको जला कर अँधेरे में रास्ते पर जाने वालों को रोशनी देती है । सूरज अपने आप को जला कर जगत् को रोशनी देता है । तो क्या मनुष्य—जो सूरज के भी मालिक की संतान है, मोमबत्ती से भी गया गुज़रा है ?

"नहीं," मुझे अंदर से किसी ने कहा ।

"तो फिर ?" मैंने पूछा ।

अंदर से जवाब मिला, "अगर मनुष्य सिर्फ इतना ही समझ ले कि 'रोशनी' का मतलब है 'रोष—न', यानि क्रोध-धिक्कार नहीं, तो वह धीरे-धीरे मोमबत्ती के मर्म को पहचान लेगा ।"

तो क्या औरों पर रोष या क्रोध करना अपने आपको और दूसरों को रोशनी से वंचित करना है ? "हाँ," फिर अंदर से मुझे किसी ने कहा ।

क्योंकि ये ही रोष तो सब ख़राबी करता है । इसी की आग ही तो अंतर-देवता की रोशनी पर एक कम्बल-सा डाल देती है । और इसी का उलटा हम देखते हैं जब रोष हम अपने आप पर करते हैं, जब कवि कुछ बिगड़ जाता है, उस की आग अंतरदेवता की रोशनी के बाहर आने का एक रास्ता बना देती है !

ऐसी आश्चर्यपूर्ण, यही है जीवन की "होम्योपैथी," रोष ही या अहंकार ही मनुष्य को जलाता है और उसे जिलाता भी है !

झाड़ू लो ! झाड़ू लो !!

"मध्यरात्रि के समय कौन झाड़ू बेचने निकला है ? कोई मूर्ख ही होगा।"—यह कहकर मैंने अपनी आँखें फिर बंद कर लीं और सो गया।

मगर कुछ समय के बाद एक बार फिर "झाड़ू ! झाड़ू !!" की पुकार मेरे कानों में पड़ी। इस दफा तो मुझे जरा क्रोध भी हो आया और मुझ से न रहा गया। इसलिये मैंने अपने कमरे की खिड़की खोली और उसमें से मैंने झाँककर देखा कि कौन "झाड़ू, झाड़ू" पुकार कर हम सब लोगों की नींद बिगाड़ रहा है। मैंने इधर देखा, उधर देखा, मगर मुझे कोई भी नज़र न आया। इससे क्रोध का पारा और भी चढ़ गया।

"तो फिर क्या मैंने सपने में ही यह पुकार सुनी थी ?" इस तरह से अपने आपको कोस कर मैंने एक बार और निद्रादेवी की शरण ली।

जब कुदरत की घड़ी में चार बजे अर्थात् जब मुर्गे ने बाँग दी कि "सोनेवालो उठो, अपने परवरदिगार की याद करो।" तब मैं उठ खड़ा हुआ। बाहर की सफाई समाप्त करके मैं अंदर की सफाई के लिए एकान्त में बैठा। ठीक जिस वक्त मेरी समाधि शुरू होने लगी, उसी समय "झाड़ू ! झाड़ू !!" की पुकार मेरे कानों में गूँजने लगी। उसे सुनकर मेरा मन कुछ खिजा और मैंने अपने आप से कहा, "यह तो हद हो ही गई। ध्यान में भी शान्ति का भंग ! यह तो कोई अजीब ही झाड़ू बेचने वाला जगत् में पैदा हुआ है। काश ! कि मेरी आँखें उसे देख सकतीं, ताकि मैं उसे दो-चार सुना कर अपने मन को शांत तो कर सकता।"

उस वक्त शहर के कारखानों से ऐसे जोर से सीटियाँ बजीं जैसे कि पाताल के भूतों ने मिलकर चीखना शुरू किया हो। थोड़ी ही देर के बाद आकाश धूएँ से ढक गया। मगर धूएँ के बादल का किनारा सूरज की किरणों से सुनहरी हो गया। मैं यह अँधेरे में उजाले की लीला देख ही रहा था कि वह बादल एक महात्मा पुरुष के उज्ज्वल मुख की तरह चमक उठा और मैं आनन्द से बोल उठा, "हैं, गांधी जी, आप खुद !"

फिर खुद-ब-खुद मेरा सिर झुक गया—प्रेम-प्रणाम की प्रेरणा से।

ख़ुशबू

एक दिन वर्धा में काका कालेलकर जी से कुछ दोस्त मिलने गये। जब सब प्रेम पूर्वक "राम-रहीम" नमस्कार कर चुके तो उन्होंने उनमें से एक से जो ज़रा मुहब्बत-मस्त और जिन्दादिल थे हँसते-हँसते पूछा—"मगर यह ख़ुशबू कहाँ से?"

काका जी के यह शब्द सुनकर पहले तो सब लोग कुछ हैरान हुए। और इसका एक कारण भी था। उस वक्त प्रेम-मंडली में किसी ने भी अपने जिस्म पर या कपड़ों पर किसी ख़ुशबूदार तेल या इतर का इस्तेमाल नहीं किया हुआ था। तो फिर यह ख़ुशबू कहाँ से?

जब बातचीत ख़त्म हो चुकी और मित्र-मंडल घर वापिस लौटा तो रास्ते में एक मित्र ने जो कुछ मलंग तबीयत का था अपने मित्रों को कहा—"मैं तुम्हें बताऊँ वह ख़ुशबू कहाँ से आ रही थी?"

"हाँ हाँ, ज़रूर!" उन्होंने मिलकर जवाब दिया और फिर बड़े शौक़ से मलंग साहब क्या फ़रमायेंगे इसका इन्तज़ार करने लगे।

फिर मलंग साहब ने फ़रमाया—"ख़ुशबू लफ्ज़ दो लफ़्ज़ों का बना हुआ है—ख़ुश और बू। तो ख़ुशबू का मतलब हुआ उसकी बू जो हमेशा ख़ुश रहता है और हमेशा ख़ुश तो ख़ुदा ही रहता है, उपनिषदों में क्या एक जगह ऐसा नहीं लिखा हुआ है कि ईश्वर आनन्द है?"

फिर कुछ देर के लिए वह ख़ामोश रहे। उनके मित्र उनकी तरफ़ अचरज से देखने लगे। मगर उनमें से एक से रहा ही न गया। वह बोल उठा—"ख़ूब कही मलंग मियाँ, मगर कुछ और भी तो कहो।"

मलंग मियाँ ने अपनी विचार-तरंग जारी रखी। "हर एक में ईश्वर बसता है और वह आनन्दमय है। मगर ईश्वर का एक और भी तो नाम है, वह है प्रेम। और जहाँ लोग आपस में प्रेम से मिलते हैं वहाँ

ख़ुशी की ख़ुशबू ख़ुद-ब-ख़ुद लोगों के दिलों से एक अगरबत्ती की सुगन्ध की तरह ऊपर निकल उठती है।"

मलंग साहब फिर ख़ामोश रहे। उनके मित्रों ने—क्योंकि अब उनका मकान नज़दीक ही आ पहुँचा था—उन्हें नमस्कार की और कहा—"आज तो मलंग साहब आपने अपनी पंडिताई का जौहर ख़ूब दिखाया।"

जवाब में मलंग साहब ज़रा हँस दिये और कहने लगे—"भाई, पंडिताई से तो मैं हज़ारों कोस दूर रहने की हमेशा कोशिश करता आया हूँ, फिर मेरे में पंडिताई कहाँ? हाँ, इतना ज़रूर कहूँगा कि मैं ख़ुशबूदार बनने की ख्वाहिश बरसों से रखता आया हूँ।"

गांधी जी की लंगोटी

यह २००१ की बात है।

शाम के वक्त एक गरीब गाँव में एक बूढ़ी माँ अपनी झोपड़ी के दरवाज़े के पास बैठी थी। चारों तरफ शान्ति का शाल बिछा हुआ था।

बूढ़ी माँ की आँखें आसमान की तरफ ताक रही थीं। ताकते-ताकते कभी उसकी आँखें थकावट से बन्द हो जातीं और उस वक्त उसके मुंह से मधुर नाम 'राम! राम!' सुनाई देता।

जब मध्य रात्रि होने आई, तब वह बूढ़ी माँ अपनी झोपड़ी में वापस आई; ऐसा मालूम हुआ, जैसे कि वह सोने जा रही है। मगर कुछ समय के बाद वह फिर बाहर आकर दरवाज़े के पास बैठ गई और तारों की चमक और उसकी आँखों की दमक का पवित्र संगम हुआ।

इस संगम के आनन्द की गङ्गा में वह सुबह तक स्नान करती रही! जब कुदरत की घण्टी 'कुकड़ू कू—कुकड़ू कू' बजी, तब उसने अपनी ओढ़ी हुई चादर की तह के नीचे से एक छोटा-सा सफेद खादी का टुकड़ा, जो नाप में शायद दो हाथ होगा, निकाला। उसे उसने अपनी आँखों से चूमा और फिर आँखें बन्द करके मालूम नहीं किसके ध्यान में वह मगन हो गई।

जब सूरज की पहली किरणें उसकी झोपड़ी की छत को और उसके सिर को आशीर्वाद-रूप स्पर्श करने लगीं, तब वह अपने ध्यान से उठी, और उसने उस खादी के टुकड़े को अपने सिर पर रख कर कहा,—"जय हो तेरी, मेरी लँगोटी, तू है सादगी और सच्चाई का अवतार!"

यह कह कर बूढ़ी माँ फिर झोपड़ी के अन्दर दाखिल हुई। दिन बहुत चढ़ आया था तो भी वह सोई रही! कौन जानता है कि उस सुषुप्त समाधि में वह किस विभूति के दर्शन कर रही थी?

गांधी—गुरुदेव

गांधी जी सुनहली जिल्द में बँधी हुई भगवत्गीता थे तो गुरुदेव उपनिषदों की सचित्र आवृत्ति। एक धर्म का उपासक था तो दूसरा सौन्दर्य का; लेकिन दोनों एक साथ—यद्यपि अलग-अलग क्षेत्र में—एक ही सत्य के मन्दिर में उपासना करते थे।

गांधी जी ने सेवा का संगीत चरखे की धुन के साथ गाया; गुरुदेव ने अपना जीवन संगीत की सेवा में बिताया। एक ने मनुष्य-जाति के दुःखी दिल को दिलासा दिया तो दूसरे ने मनुष्य को आत्मा का आनन्द दिया। पर दोनों एक साथ प्रेम के मोहित वर्त्तुल में फिरे।

गांधी जी ने नीति के अनन्त मार्गों पर चलते हुए प्रभु का मार्ग पकड़ा। गुरुदेव ने प्रेम की उपस्थिति में आनन्द से नृत्य किया और प्रभु के दिल का गुप्त मार्ग खोज निकाला।

एक ने कमल में जो बिजली का बाण है उस पर ध्यान किया, दूसरे ने बिजली के बाण पर जो कमल है उस पर। लेकिन ये दोनों सत्य के दो बाजू हैं—मृदु और रुद्र, नम्र और शक्तिशाली—इसका ज्ञान प्राप्त किया।

गांधी जी की दृष्टि में यह जगत् प्रभु का एक कार्यालय था। गुरुदेव की दृष्टि में यह जगत् भगवान का एक बगीचा था। परन्तु दोनों ने अविरत कार्य में अपना जीवन बिताया। एक का काम था आनन्दमय करना और दूसरे का काम था आनन्द उत्पन्न करना।

गांधी जी यह मानते थे कि व्यक्तिगत समस्या जगत् की समस्या है। गुरुदेव मानते थे कि जगत् की जो समस्या है वही व्यक्तिगत समस्या है। पर दोनों जानते थे कि जीवन एक सीधी लकीर नहीं, एक वर्त्तुल है।

एक ने यह माना कि जीवन संगमरमर का एक ढेर है। पर दूसरे ने

यह माना कि जीवन प्रेम का अभिसार है। इसलिए गांधी जी ने उस अनगढ़ ढेर में से मूर्तिकार के समान मूर्ति गढ़ी, दूसरे ने फूल बीने और अपनी प्रिया की वेणी का शृंगार किया। पर दोनों ने जीवन तो स्वीकार किया। एक ने सेवक के रूप में और दूसरे ने संगीतकार के रूप में। एक ने दासी के रूप में और दूसरे ने कुमारी के रूप में।

इस प्रकार गांधी जी और गुरुदेव दोनों प्रभु के दिल के बाग में उगे—जो दिल, मानव दिल है। उनके जीवन की सुवास अमर रहेगी, जैसे भगवान् अमर हैं।

गांधी जी और गुरुदेव !

एक युग ऐसा था, जब पश्चिम में तथा बाद को भारत में भी शिक्षा का उद्देश्य 'तीन आर्स' (रीडिंग, राईटिंग और रिथमैटिक अर्थात् वाचन, लेखन और गणित कर लेना) में व्युत्पन्न होना माना जाता था। इसके साथ ही शिक्षकों का यह विश्वास भी था कि मार खाये बिना विद्यार्थी को विद्या नहीं आती। इसीलिए बहुत समय तक यूरोप में यह कहावत प्रचलित रही है कि स्त्री, बालक और अखरोट के पेड़ को जितना पीटा जाये, उतना ही अच्छा है—'ए वूमैन, ए चाइल्ड एंड ए वॉलनट, थ्री दी मोर यू बीट देम, दी बैटर दे बी।'

इन विचारों से जो शिक्षण पद्धतियाँ बनाई गईं उनमें प्रभु का स्थान कहीं भी नहीं था और हो भी कहाँ से ? क्योंकि प्रभु की दृष्टि से तो सीखने का सबसे उत्तम वातावरण प्रेम का ही हो सकता है।

भारत में लगभग एक शताब्दी से अधिक समय तक शिक्षित व्यक्ति एक कलमबाबू माना जाता था, जिसका काम दफ्तरों में केवल कलम घिसना और कागज काले करना था। जहाँ सद्‌विचार और सद्‌विवेक की शक्ति होनी चाहिए थी, वहाँ गुलामी विद्यमान थी। परिणामतः एक शिक्षित व्यक्ति उस कलमबाबू पर जो हुक्म चलाता था वह उस पर रबड़ की मुहर की तरह अंकित हो जाता था। वह कलमबाबू अपना परिचय देते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहता था—'आई एम मिस्टर डिट्टो।'

यह करुण स्थिति निहार कर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शांति-निकेतन की स्थापना की थी—विद्यार्थियों को प्रकृति की गोद में बिठा कर मानव की सेवा द्वारा भगवान् की सेवा का पाठ वहाँ पढ़ाया जाता था, परन्तु ऐसी वस्तु स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब वहाँ के वातावरण को कला और संगीत द्वारा आनन्दमय बना दिया जाय।

दैनिक आचार और शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थियों को इस प्रकार सुरक्षित कर देना चाहिए कि व्यक्ति अपना काम अपने आप करते जाएँ। अपने चरित्र को संयम के आनन्द से घड़ते चले जाएँ। संक्षेप में कहना चाहें तो शांतिनिकेतन का आदर्श था—'हार्मनि ऑफ दी थ्री एच्स—ऑफ दी हार्ट, ऑफ दी हैड एण्ड आफ दी हैन्ड—अर्थात् हृदय, मस्तिष्क और हाथ का समन्वय। इस आदर्श में और पश्चिम के आदर्श में हम सरलता से प्रभेद निहार सकते हैं।

पहले मस्तिष्क के विकास पर ही सारा भार दिया जाता था। हृदय और हाथ के विकास के लिए स्थान ही नहीं था। आज के युग में भी शिक्षण का उद्देश्य—'थ्री एच्स' (तीन हकार) ही हैं; परन्तु उनका अभिप्राय और है—'हौस्पीटलिटि टु न्यू आइडिया, हौस्पीटलिटि टु ए स्ट्रैंजर एण्ड हौस्पीटलिटि टु योर ओन सैल्फ हैन यू आर एलोन'—अर्थात् शिक्षित व्यक्ति वह है, जो एक नवीन विचार का आतिथ्य कर सके, एक अज्ञात व्यक्ति के साथ अपने सम्बन्ध का बोध प्राप्त करके उसका आतिथ्य कर सके और जब एकाकी हो, कोई विशेष काम न हो तब अपने एकाकीपन का आतिथ्य कर सके।

गुरुदेव तो थे सत्कवि। अतः जब उन्होंने शांतिनिकेतन विद्यालय की स्थापना की तब वहाँ कला पर विशेष बल दिया, परन्तु बापू जी थे कर्मयोगी, अतः उन्होंने कार्य पर बल दिया। इसीलिए जब बुनियादी तालीम की योजना बनायी गयी, तब शिक्षण के केन्द्र में उद्योग को स्थापित किया गया। उनका विश्वास था कि बालकों को वस्तुएँ बनाने में बहुत आनन्द आता है।

इस प्रकार गुरुदेव और गांधी जी ने—आनन्द द्वारा विद्यार्थियों को सिखाया जा सकता है— इस तत्त्व को व्यवहार में स्थापित किया। मूलतः देखा जाए तो 'जौय ऑफ सिगिंग सौंग एण्ड जौय ऑफ मेकिंग थिंगस' संगीत का आनंद और किसी वस्तु के निर्माण का आनंद एक ही है।

बुनियादी तालीम की योजना घड़ते समय प्रतीत होता है गांधी जी

का एक दूसरा उद्देश्य भी था कि विद्यार्थी वस्तुएँ बना कर उनके संबंध का ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञान को अपने वातावरण के साथ मिला कर आत्मबोध ग्रहण करें। गुरुदेव की कामना यह थी कि विद्यार्थी प्राकृतिक सौन्दर्य के सान्निध्य में रहता हुआ कला-कृतियों द्वारा प्रभु का बोध ग्रहण करे।

ज्ञात होता है कि दोनों ही महापुरुषों का शिक्षा विषयक उद्देश्य यह भी था कि हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसके द्वारा हम, किसी भी प्रकार से, पूर्णतया मानव-जाति की सेवा कर सकें, क्योंकि दोनों ही सत्पुरुषों का यह विश्वास था कि जीवन का आत्म-विकास (सैल्फ फुलफिलमेंट) में निहित है, आर्थिक उन्नति (सक्सैस) में नहीं।

आज़ादी की आज़ारी

१५ अगस्त, १९४७ की सुबह को मेरे छोटे भतीजे ने कहा—"चाचाजी, आज़ादी आ गई !"

जिस खुशी के लहजे में उसने मुझे देश के स्वतंत्र होने की ख़बर दी, उससे ऐसा मालूम होता था जैसे कि एक मरुभूमि का रहनेवाला कह रहा हो—"आहा ! आख़िर बरसात आई ही !"

लेकिन हमारी आज़ादी की बारिश ने आते ही हज़ारों घरों को ज़मीन में दफ़न कर दिया। इसलिए ही उसी मेरे छोटे भतीजे ने, अभी तो दो महीने भी आज़ाद हुए नहीं गुज़रे थे, एक दिन उदास चित्त होकर मुझसे कहा—"चाचाजी, यह तो आज़ादी नहीं है, मगर है आज़ारी !"

बात भी सच है। मगर क़सूर किसका, आज़ादी का या आज़ादी पानेवालों का ? आज़ादी का तो नहीं, क्योंकि आज़ादी तो सूरज की रोशनी की तरह है, जैसा रंग जिस वस्तु का—जिस पर वह पड़ती है—उसमें ही उसकी सफ़ेदी बदल जाती है।

इसलिए क़सूर आज़ादी पाने वालों का है। हम भूल गए हैं कि आज़ादी की आत्मा सचमुच में आत्मा की आज़ादी है। आज़ादी, यह ठीक है, स्वभाव से ही स्वतंत्र है। मगर हमने 'स्व' का तंत्र इस तरह से फैला रखा है कि हमारी आत्मा अब तक क़ैद में ही रहती है।

अब सवाल यह है कि आत्मा की आज़ादी का हमारे जीवन में किस तरह विकास हो ? इसका एक ही तरीक़ा है, जो पूज्य बापू ने हमें बतलाया है, और जिसकी गवाही उनका हर एक पदचिन्ह देता है। अर्थात् आज़ादी का अगर ठीक फ़ायदा उठाना है, तो आत्मा की आज़ादी—(जिसका मतलब है परमात्मा का स्पर्श, जो जीवन की सच्ची पारसमणी है)—को अनुभव करने की साधना करनी चाहिए; तब ही तो आज़ादी आशीर्वाद-रूप बनेगी। और आत्मा का अनुभव करना आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना है और 'अहम्' का नाश करना है। क्या हम ऐसी साधना के लिए तैयार हैं ?

समाज ?

कोई अपने कमरे में अकेला बैठा हुआ गुनगुना रहा था :—

"तू ही सब कुछ जाने प्रीतम,
फिर मैं क्यों करूँ कयास ?"

यह शब्द सुनकर मेरे मन में आया कि अगर यह तू या प्रीतम सब कुछ ही जानता है तो मैं उससे ही अपने सवाल का जवाब क्यों न पूछ लूँ ? मेरा सवाल था—"समाज का क्या अर्थ है ?"

मगर यह 'प्रीतम' या 'तू' कौन ? और मैं उससे कैसे मिल सकता हूँ ? इन दो प्रश्नों ने मुझे भूल-भुलैया में डाल दिया।

एक बात तो मैं जल्दी ही समझ गया—मेरे में 'मैं' कौन है, उसे तो मैं पहचानता हूँ, लेकिन कभी-कभी मैंने जीवन में ऐसा भी देखा है कि जब किसी समस्या पर गूढ़ विचार कर रहा होता हूँ तो 'तू' की आवाज़ भी सुन पड़ती है और उसके कहने में मुझे हमेशा सत्य की ज्योति की एक झलक दिखाई दी है।

मैं समाज के विषय में गूढ़ विचार करने लगा; बैठे-बैठे जब मैं मन से ज़रा थक गया तो 'तू' को धीमे से अपने दिल के परदे के पीछे से निकलते हुए देखा। मैंने उसे प्रणाम किया और फिर बड़ी नम्रता से मैंने उससे पूछा—बड़े भैया, तुम तो जानते ही हो, इस वक्त किस विषय पर विचार कर रहा हूँ मैं ! क्या तुम मेरी मदद नहीं करोगे ?

"मैं तुम्हारी ज़रूर मदद करूँगा", उसने जवाब दिया और साथ ही कहा, "इसीलिये तो मैं इस वक्त तुम्हारे पास आया हूँ।"

"बड़ी मेहरबानी, बड़े भैया ! तो मेरा सवाल यह है—"मनुष्य-समाज का आदर्श क्या होना चाहिए ?"

बड़े भाई साहब ने फौरन जवाब दिया—"यह भी क्या कोई मुश्किल सवाल है।"

"मेरे लिये तो यह एक मुश्किल सवाल है, मैंने प्रत्युतर दिया, भले ही तुम्हारे लिये ऐसा न हो।"

"तो सुनो, बड़े भाई साहब बोले, समाज शब्द में सारा तत्त्व समाया है। इसलिये इस शब्द का अर्थ पहले पूरी तरह से समझ लो।"

"तो आप ही समझा दीजिये", मैंने विनती की।

"समाज शब्द का अर्थ है, सम+आज, अर्थात् जिस दिन समाज अपने हरेक सदस्य को कह सकेगा—"तुम सब आज एक समान हो, उस दिन ही से समाज में प्रीति, नीति, शांति का उद्भव होगा।"

"बड़ी ही मेहरबानी" तब मैंने कहा।

बड़े भाई साहब तो कुछ वक्त के बाद चले गये, मगर मैं "समाज = सम+आज" का सूत्र तब से हर रोज कई बार जप लेता हूँ।

सेवाग्राम

सुबह का वक्त था। पूर्व में काली कमलीवाले साधुओं की एक कतार, काले बादलों के रूप में, तारों की ज्योति में अपना रास्ता टटोलती हुई, पश्चिम की तरफ जाती दिखाई दी। उस समय की घोर शान्ति में इन साधुओं के चलने की आहट सुनाई दे रही थी।

यकायक तारे गायब हो गये। साधुओं ने शोर मचाना शुरू किया—"अब हमको रास्ता कौन दिखलाएगा? हम तो इस अंधकार में रास्ता ही खो बैठे हैं।"

उसी मुहूर्त दूर से युवकों और युवतियों, बच्चों और बूढ़ों का एक समूह आता दिखलाई दिया। वह राम राम रटते हुए एक झोपड़ी की दिशा में जा रहा था।

उस झोपड़ी के पास पहुँच कर सबने अपना सिर बड़ी प्रेम-मयी नम्रता से झुकाया। फिर वे सब अपने-अपने कामों में लग गये। एक ने झाड़ू लगाना शुरू किया, दूसरा चक्की चलाने लगा, तीसरा खेती करने लगा, चौथा चरखा चलाने लगा, पाँचवाँ तेल का कोल्हू चलाने लगा। हर एक अपना काम करता जाता था और दिल में राम राम जपता जाता था। उनके मुख पर पसीना, एक महाराजा के गले की माला के मोतियों की तरह चमकता था। उनकी पेशानी स्वतंत्र मानवता की प्रतीक थी, उनके शरीर से सुख की सुगन्ध निकलती थी। इस वक्त तक सूरज निकल आया था और उसने हर एक पसीना बहाने वाले को एक सुनहरी पोशाक पहना दी थी, जिससे ऐसा मालूम होने लगा कि जहाँ वे लोग काम कर रहे थे वह स्थान एक महाराज का शानदार महल बन गया है। जब काम करने वाले थक कर बिलकुल चूर हो गये, वे आराम करने के लिए वृक्षों की मातृवत् छाया में बैठ गये।

उसी वक्त झोपड़ी से किसी की आवाज सुनाई दी—"जहाँ सच्चा कर्म है, वहाँ सत्करतार है। जहाँ राम है, वहाँ सेवा है। मगर सेवा पहले होनी चाहिए, फिर राम मिलेगा; सेवा—श्रम—राम—सेवाग्राम!"

शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम

आज के भारतवर्ष के समस्त आदर्श, आशा और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले दो नाम हमें अनायास ही याद आते हैं—शांतिनिकेतन और सेवाग्राम। इन दोनों पुण्य-तीर्थों का जन्म पच्छिम से आई हुई उन्नीसवीं सदी की तीन प्रधान धाराओं के प्रतिवाद के रूप में हुआ था : व्यक्तिवाद, व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद। देश के शासन और शिक्षा के क्षेत्र में इन तीनों धाराओं ने जो असर पैदा किये थे, उक्त दोनों संस्थाएँ उनका जीवित प्रत्याख्यान हैं।

शांतिनिकेतन का आविर्भाव कवि के मस्तिष्क से हुआ था। जिस दिन पहली बार कविगुरु रवीन्द्रनाथ शाल के समुच्च वृक्षों की छाया में शिशुओं के खेल के साथी और धरती के लाल संथालों के मंगलाकांक्षी बनकर बैठे, उसी दिन तत्कालीन शिक्षा-क्षेत्र की मानो ज्वलंत आलोचना हो गई। उनकी शिक्षा-पद्धति का मूल मंत्र था—संहति, समन्वय।

दूसरी ओर सेवाग्राम (अथवा उसके पूर्ववर्ती दक्षिण अफ्रीका के फीनिक्स या गुजरात के साबरमती) आश्रम की रचना जिस शिल्पी के हाथों ने की थी वह श्रम को गहरे विश्वास के साथ मानव-जीवन की नींव मानता है और जानता है कि मेहनत और मशक्कत इंसान की जिन्दगी के वे तत्त्व हैं, जो उसे गांभीर्य और गरिमा प्रदान करते हैं।

इधर कवि को जीवन-मात्र के अंतराल में रहने वाली एकता से साक्षात्कार था और इसलिए आधुनिकता के साथ सामंजस्य करके उन्होंने तपोवन की सृष्टि की। जहाँ इस मूलभूत एकता के विकास में बाधा पड़ी, वहाँ कवि ने स्वाध्याय, स्वार्थ-त्याग, सेवा या संगीत की साधना से उसे पूरा किया।

उधर रूपक की भाषा में गाँधी जी को हम एक व्यावहारिक दार्शनिक

हरवाहा कह सकते हैं। 'एक कदम भी मैं बढ़ लूँ तो यही बहुत है'— उनके जीवन का मूल-मंत्र है। उन्होंने इसी मंत्र को अपने जीवन के केन्द्र में दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करके जीवन के वृत्त को अनंत तक खींच दिया है। इससे वे उस जगह तक पहुँच सके हैं जहाँ सबकी पहुँच नहीं और फिर भी उनकी जीवन-धारा सबके हृदय-कूलों को छू कर हरा-भरा और स्निग्ध करती हुई बहती है।

एक की प्रेरणा का स्रोत था जीवन की छन्दोमयी रहस्योन्मुखता और दूसरे की प्रेरक शक्ति थी तपस्या से, साधना से अहंकार का नाश।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति हो चाहे समाज, उसके जीवन में नया खून दौड़ाने के लिए जीवन के प्रति इन दोनों दार्शनिक दृष्टिकोणों की अनिवार्यता सिद्ध है। हमें कल्पना भी चाहिए और कर्म भी; स्वप्न भी चाहिए और सत्य भी। तभी मनुष्य और उसका समाज अपने हर अंग को विकसित कर सकता है।

कवि एक फूल की तरह है, जिसे अगर धूप चाहिए तो छाया और पावस भी चाहिए। इसलिए वह जीवन के हर पहलू को स्वीकार कर लेता है, छोड़ता किसी को भी नहीं। जीवन की रंगभूमि में जो नाटक अनुक्षण हो रहा है, वह उसके साक्षी की तरह होता है। वह उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखता है; क्योंकि वह स्वयं भी स्रष्टा है।

दूसरी ओर साधक या तपस्वी जीवन-मन्दिर के सब उपकरणों को धो-माँज कर साफ करता है, जिससे वह चमक उठे। या वह उस योद्धा की तरह है, जिसने संघर्ष की जिन्दगी मोल ली है और जिसे मनुष्य की हर क्षुद्रता से जान-बूझ कर जूझना भाता है।

पश्चिम के संसर्ग से हमारे जीवन में संदेह या मिथ्या दर्प और जीवन के प्रति एक प्रकार का साधनाहीन मोह पैदा हो गया था। देश में एक ऐसा समाज बनने लगा था, जिसने अपनी पुरानी सांस्कृतिक विरासत को संदेह की दृष्टि से देखा। फलतः देश की जीवन-प्रणाली से उसका तारतम्य टूट गया। वस्तुपरक सागर-पार की सभ्यता एक नशे की

तरह अपने जादू से देश के युवक-संप्रदाय को मुग्ध करने लगी। शांति-निकेतन के गायक और सेवाग्राम के कर्मी ने इसी मनोवृत्ति के ख़िलाफ़ बगावत का झंडा ऊँचा किया। उनसे पूर्व भी देश के कुछ क्रांतद्रष्टा मनीषियों ने इस ओर दृष्टि फेरी थी; लेकिन उनके विद्रोह में विद्रोह का स्वर ऐसा प्रबल नहीं था। इन नये विद्रोहियों को सुख की सेज और ऐश्वर्य का भंडार त्यागना पड़ा। कवि को उनके जीवन-देवता ने जो बंसी दी थी, उसे वे अगर चाहते तो आजीवन रईसी की जन्म-सुलभ सुविधा के बीच अबाध बजाते रहते; किन्तु बंसी की जगह उन्होंने कर्त्तव्य-रथ की बागडोर सँभाली। दूसरे ने न्यायालय में अपनी विपुल आमदनी के आश्वासन को दूर ठेलकर बलराम की तरह कंधे पर हल उठाया। दोनों ने महान् के निकट अपने सीमित स्वार्थ को तिरोहित किया। उनकी बात सोच कर भगवान् बुद्ध अथवा प्रभु यीशु की याद आती है। एक बार फिर यह बात प्रमाणित हुई कि त्याग में ही विकास का बीज छिपा होता है और उत्सर्ग ही से सृष्टि पलती और पनपती है।

कवि ने गाया : "तुम्हें पहचान लेने के बाद फिर कोई पराया नहीं रह जाता, किसी का द्वार हमारे लिए रुद्ध नहीं रह पाता। मेरी इस कातर प्रार्थना को स्वीकार करो कि इस अनेकरूपता के सीमाहीन खेल में तुम 'एक' के चरण मेरे हृदय को उज्ज्वल करें।" और उन्होंने अपने काव्य में, गान में, शिक्षा में, दीक्षा में, गांवों के पुनर्गठन और समाज के पुनर्निर्माण में इसी 'अनेक' के मर्मव्यापी 'एक' की लीला को व्यक्त किया।

दूसरी ओर चर्खाधारी हलधर ने भी यही सत्य दुहराया : "वे वहाँ हैं, जहाँ धरती के लाल धरती पर पसीना बहा कर धान का सोना उगा रहे हैं और मजदूर गिट्टी तोड़ रहा है। आतप और मेह में वे उन्हीं के साथ श्रम कर रहे हैं। उनके दुकूल को धरती की धूलि ने मलिन कर दिया है। तब आओ, हम अपनी पवित्र रामनामी को कमर से कसकर क्यों न इसी धूलि-धूसरित धरा पर कर्म के क्षेत्र में उतर आएँ?"

दोनों ने अपना राज-मुकुट उतार दिया और जिस पृथ्वी पर जन्म

लिया था, उसे छोड़ते समय वहाँ कुछ पुण्य का पराग बिखेर सकें, इसी की साधना की। दोनों ने पुकार कर कहा : "मुक्ति, कहाँ है मुक्ति ? हमारे सृष्टिकर्ता स्वयं ही अपनी सृष्टि के बन्धन को सानद स्वीकारे हुए हैं। वे आद्यन्त हमारे साथ हैं, हममें समाए हैं।"

इस प्रकार शांतिनिकेतन और सेवाग्राम के तीर्थों ने हमारे भीतर पूर्णतर जीवन की लौ जगाई। जिसे हम भूल से तरक्की कहते हैं, उसके खोखलेपन को हमारे सामने जाहिर किया। पूर्णतर जीवन का सार है— सहज सरलता। कवि ने कहा : "यही सरलता सुन्दर की पहचान है और परिचय है।"

और यही तो सदा से होता भी आया है। इतिहास के कक्ष में कवि और पैग़म्बर ने अपने को पुरोहित और श्रमजीवी किसान के साथ कंधा मिलाकर खड़ा पाया है। हमारे समय में पैग़म्बर तो अब तक नहीं जनमे हैं और पुरोहित जी ने अपने पुण्यकर्त्तव्य की अवहेलना की है। किन्तु उनके स्थान पर कवि और किसान के गौरव की छटा देखने का सौभाग्य हमें मिला है। दोनों को हमने सत्य के मन्दिर में साथ-साथ प्रवेश करते देखा है। आनन्द और तपस्या की उपलब्धि के मार्ग से ही सत्य के मंदिर तक जाना होता है। शायद इसी से एक दिन कवि ने कहा था : "शांतिनिकेतन आनंदमय, सत्य का प्रतीक है; साबरमती तपोमय सत्य का।" और कदाचित् सत्य की हम उस पंछी के साथ भी तुलना कर सकते हैं, जिसके पंख युगल होकर भी एक हैं या उस वृक्ष की भी याद कर सकते हैं, जिसकी शाखाओं पर दो स्वर्णिम विहंग बैठे थे।

सर्वोदय की भावना

सारे संसार में सूर्य को सत्य का भास्कर प्रतीक माना जाता है। इसी-लिए सत्य के हर पहलू में सूर्य की उज्ज्वल दीप्ति और सीमाहीनता, साथ ही निर्विशेष उदारता और व्यापकता का कुछ न कुछ अंश होता ही है।

'सर्वोदय' की भावना में भी सूर्य की यही महिमा अनुरंजित है। वह सब के मंगल का प्रतीक है। धनी हो या निर्धन, पंडित हो या अपढ़, ऊँचे-नीचे, दीन और गरबीले, मालिक और सेवक, स्त्री अथवा पुरुष पापी एवं निष्पाप सभी को जिस तरह सूर्य पक्षपातहीन आलोकित करता है; हिमालय के नभ-चुंबी शिखरों से लेकर मनुष्य की स्नेहशून्य दीन-हीन झोपड़ियों तक—उसी प्रकार इसमें सब के कल्याण की कल्पना छिपी है।

इसी प्रकार न्याय मनुष्य का प्राप्य पुरस्कार भी है और एकान्त प्रयो-जन भी। जैसा कि किसी ज्ञानी ने कहा है—निष्पक्ष न्याय संसार का नियामक है। यह न्याय दो पहलुओं वाला सत्य है। मनुष्य के प्रति न्याय होना चाहिए और न्याय का कर्त्तव्य मनुष्य पर भी है। प्रायः इसमें से पहले पर तो कुछ ध्यान दिया जाता । बाइबिल के उस साहूकार का ख़याल आता है जो दूसरों के कर्ज़ जोर देकर वसूल करा लेता है, लेकिन कर्ज़ चुकाने की जिसे कभी फ़िक्र नहीं होती थी।

वस्तुतः न्याय के प्रवर्त्तक का अर्थ ही मानव के अन्तर में निवास करनेवाले भगवान् के प्रति अपना विश्वास व्यक्त करना है। और चूँकि मनुष्य अपने अन्तर की भागवत्-सत्ता को अपने धर्म के द्वारा ही व्यक्त करता , इसलिए जीवन के नियत कर्म के प्रति भी श्रद्धा होनी चाहिए। इसीलिये कवि ने कहा था "सेवा का हर कार्य परम सेवित भगवान् की दृष्टि में समान है।"

सर्वोदय का आदर्श इसी निष्पक्ष न्याय की भावना पर खड़ा है।

दीनतम और दरिद्रतम के प्रति भी। व्यवहार में इसका अर्थ है सहयोग–सहकारिता-समभाव। मनुष्य का मनुष्य के प्रति न्याय-विचार सृष्टि में धर्म के चक्र का प्रवर्त्तन करता है। यद्यपि मनुष्य इस चक्र की व्यापक गति को सर्वदा नहीं देख पाता है कि धर्म का यह कल्याण चक्र चल रहा है। फलस्वरूप सर्वोदय की प्रेरणा से चलनेवाला अपने अधिकार के स्थान पर अपने कर्त्तव्य और दायित्व का सदा ध्यान ही रखता है। उसका विश्वास पहाड़ के समान अचल होता है। वह जानता है कि यदि अपनी जीवन-बाती के दोनों कोरों को वह जलाता है तो इससे एक ऐसे प्रकाश का उदय होगा, जिसे स्वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त है। उसका आह्वान उन्हीं सर्व के चरणों में होता है।

सर्वोदय की यात्रा

सूर्य सत्य का विश्वमान्य प्रतीक है। इसीलिए सत्य के प्रत्येक पार्श्व में एक किनारे उज्जवलता और निःसीमता का तथा दूसरे किनारे एकत्व और औदार्य का अंश विद्यमान होता है।

सर्वोदय भी सूर्य की तरह, गरीब और अमीर, निरक्षर और विद्वान्, ऊँचा और नीचा, स्वामी और सेवक, स्त्री और पुरुष, सन्त और पापी, हिमालय के गगन-चुम्बी शिखरों से लेकर समाज द्वारा दुत्कारे हुए हरि-जनों की झोंपड़ी तक, सबके लिए समान है।

इसी प्रकार न्याय पर भी सबका अधिकार होना चाहिए और सबके लिए आवश्यक होना चाहिए। एक विद्वान् उपदेशक ने कहा है—"सत्य-निष्ठ और सम्पूर्ण न्याय दुनिया पर राज्य करता है।"

मानव-जीवन में न्याय दो प्रकार से प्रचलित होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को न्याय मिलना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को न्यायपूर्वक वर्तना चाहिए। परन्तु प्रायः मनुष्य पहली वस्तु पर ही जोर देता हुआ पाया जाता है। अपने कर्त्तव्य को सूचित करने वाली दूसरी बात की ओर ध्यान नहीं देता। यह तो बाइबिल में आने वाली एक बोध-कथा जैसा हो गया।

मालिक ने अपने कर्ज़दार नौकर से अपना सारा पैसा चुकाने को कहा। अपनी औरत बेचकर, अपने बच्चों को बेचकर, अपने सब सामान को बेचकर पैसा चुकाने की आज्ञा दी! इस प्रकार वह अपने एक हजार सिक्के का ऋण वसूल करने को तैयार होगया। इस पर वह नौकर अपने मालिक के पैरों पर गिर कर विनय करने लगा—"महाराज, धीरज रखो, धीमे-धीमे करके मैं आपका पाई-पाई चुका दूँगा!" नौकर की यह दशा देखकर उस मालिक को दया आ गई और उसने उसे छोड़ दिया, उसका सारा कर्ज़ माफ़ कर दिया।

परन्तु वही नौकर बाहर जाकर एक दूसरे नौकर को पकड़ बैठा। उस पर उसका सौ सिक्के का ऋण था। नौकर ने उसका गला दबोच कर कहा—"मेरे पैसे चुका दे।" वह नौकर उसके पैरों पर पड़कर रोने लगा; परन्तु उस नौकर ने उसकी एक नहीं मानी। ऋण चुक न जाय तब तक उसे कैद में रखवाने का प्रयत्न करने लगा।

इस दुनिया के मनुष्यों का व्यवहार भी ऐसा ही है।

न्याय को व्यवहार में लाने का अभिप्राय है मनुष्य में रहने वाले दिव्य तत्त्व का आदर करना। जिस प्रकार मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा द्वारा अपनी आन्तरिक दिव्यता को प्रकट करता है उसी प्रकार उसके दैनिक काम-काज और व्यवहार में न्यायप्रियता होनी चाहिए। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य द्वारा जो न्याय मिलता है, उसके द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तित होता है। यद्यपि उसके प्रवर्तन को वह निबाह नहीं सकता। फलितार्थ यह है कि जिस मनुष्य में सर्वोदय का तत्त्व विद्यमान होता है वह अपने अधिकार के बदले अपने कर्त्तव्यों के प्रति खूब जाग्रत् रहता है। दूसरे को प्रकाश देने के लिए मोमबत्ती की तरह जलकर वह स्वयं तो समाप्त हो जाता है, परन्तु नैतिक नियमों का पालन करने में, दिव्य तत्त्व सदा उसकी सहायता करने के लिए उपस्थित है, ऐसी अविचल श्रद्धा ऐसे मनुष्य में ज्वलन्त-रूप से बसी हुई होती है।

भेंट

"माँ, मैं भी आज मेले में जाऊँगा। जाऊँ न माँ ?" एक बारह बरस के लड़के ने सबेरे उठते ही अपनी माँ से कहा।

"कौन-से मेले में जायगा बेटा ?" माँ ने पूछा।

"कल शाम को जब मैं कुएँ पर पानी भरने गया था, उस वक्त लम्बरदार कह रहे थे कि आज शाम को यहाँ से दो कोस पर महात्मा गांधी आने वाले हैं और दो घण्टे रहकर और लोगों को कुछ उपदेश देकर आगे चले जायँगे। मैंने सुना तो मेरे दिल में गांधी जी के दर्शन की बड़ी इच्छा हुई। मैं कल शाम तुम से कहना भूल गया। माँ, मुझे मेले में जाने की इज़ाजत जरूर दे दो।"

"हां-हां, बेटा, खुशी से जाना।" माँ ने बेटे के सिर पर बड़े प्यार से अपना हाथ फेरते हुए कहा मगर खुद कुछ सोच-विचार में पड़ गई।

"माँ, तुम भी मेरे साथ मेले में चल सको तो बड़ा अच्छा हो।" लड़के ने अपनी माँ की तरफ बड़ी उमङ्ग से ताकते हुए कहा, "तुम्हें भी गांधीजी के दर्शन हो जावेंगे। तुम मेरे साथ होगी तो मुझे भी बड़ा धीरज रहेगा।"

माँ की आँखें आँसुओं से चमक उठीं। जरा रुक कर उसने कहा, "बेटा, बात तो तेरी ठीक है, मगर मेरे पास बाहर जाने के लिये कोई साफ-सुथरी धोती नहीं है। तू तो जानता है कि जब से तेरे बाप गुजर गये हैं, हमारी हालत कैसी बुरी है। रात-दिन मेहनत करके मुश्किल से हम दोनों का पेट भरता है। इसीलिए कब से यह फटी-पुरानी धोती पहने हूँ। महात्माओं के दर्शन करने के लिए तो साफ-सुथरा होकर जाना चाहिये। अब तू ही बता, मैं तेरे साथ कैसे चलूँ, बेटा ?"

बेटा कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, "मेरी भी तो धोती फटी हुई है, मगर मैं तो यही पहनकर जाऊँगा।"

लड़का जल्दी नहा-धोकर तैयार हो गया। माँ ने रास्ते के लिए बाजरे की दो रोटियाँ और कुछ प्याज के टुकड़े कपड़े में बाँधकर दे दिये। चलते समय बेटे ने प्रणाम किया और माँ ने उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखकर कहा, "बेटा, सँभलकर जाना। रास्ते में बड़ी भीड़ होगी। और देख बेटा, बाजार की कोई चीज न खाना। भूख लगे तो इस पोटली में से रोटियाँ निकाल कर खा लेना।"

"मैं ऐसा ही करूँगा; माँ।" बेटे ने जवाब दिया। दोपहर को लड़का मेले में पहुँचा। लोगों से सारी जगह खचाखच भरी थी और सब महात्मा जी का इन्तजार कर रहे थे। महात्मा जी के बैठने के लिये शामियाने के नीचे एक ऊँचा-सा मञ्च तैयार किया गया था। गांधी जी के आने में अभी ४ घण्टे की देरी थी। लड़का इतनी भीड़ देखकर पहले तो थोड़ा घबड़ाया, फिर एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगा। थका होने के कारण उसे फौरन नींद आ गई।

आँख खुली तो तीन बजनेवाले थे। सुस्ती दूर करने के लिये वह पास की नदी में स्नान करने गया। अभी वह स्नान कर ही रहा था कि आसमान 'महात्मा-गांधी की जय' के नारों से गूँज उठा। उसने झटपट स्नान पूरा किया और फिर कपड़े पहनकर दौड़ता-दौड़ता शामियाने की तरफ चला गया।

थोड़ी देर में गांधी जी वहाँ आ पहुँचे। उनके मञ्च पर बैठते ही चारों ओर गहरी शांति छा गई। अपना उपदेश करते वक्त उन्होंने लोगों को चर्खा चलाने, छूत-छात दूर करने, सच बोलने और सेवा-धर्म का पालन करने की सलाह दी। अन्त में उन्होंने कहा, "मेरा धर्म सत्य है और मेरी साधना हमेशा अहिंसा का पालन करना है।"

गांधी जी का प्रवचन ज्यों ही पूरा हुआ कि लोगों ने फिर 'महात्मा गांधी की जय' के नारे शुरू किये। गांधी जी तब मञ्च से नीचे उतरे और सबको नमस्कार करके मोटर में बैठकर चले गये।

लड़के ने बड़ी कोशिश की कि महात्माजी के पास पहुँचकर उनके

पाँवों की धूल से अपना मस्तक पवित्र करे, मगर भीड़ में वह रास्ता न निकाल सका और न उनके नजदीक ही पहुँच सका। इसलिये वह बड़ा उदास हो गया। आहिस्ता आहिस्ता सब लोग अपने घरों को लौटने लगे, मगर वह अभी तक उसी रास्ते पर, जहाँ से गांधी जी की मोटर गई थी; खड़ा था। वह सोच रहा था कि अपनी माँ के लिये कौन सी भेंट ले जाय।

शाम होने को आई। जिस मैदान में हजारों की भीड़ थी, वह बिलकुल खाली पड़ा था। दूर गांवों के मन्दिरों में आरती के घंटे बज रहे थे। लड़के के दिल में मालूम नहीं कहाँ से भक्ति का संचार हुआ और उसे ऐसा लगने लगा कि जिस रास्ते से गांधी जी गुजरे थे, वह बड़ी ही पवित्र भूमि है और उस रास्ते की रज में जो कीमिया है, वह एक अजीब असर रखती है। इसलिए उसने उस रास्ते से थोड़ी-सी मिट्टी उठाई और उसे अपनी धोती के छोर में बाँधकर अपने घर की ओर चल दिया।

घर वापस पहुँचा तो रात के नौ बज चुके थे। उसकी माँ अपनी झोंपड़ी के दरवाजे पर कब से इन्तजार करती हुई खड़ी थी। बेटे को देखते ही उसकी जान-में-जान आई और उसने गद्गद् कंठ से, "आ गया मेरा बेटा!" कहकर बेटे के सिर पर हाथ फेरा। फिर बोली "मेरे लिए मेले से क्या लाया है?"

बेटे ने अपनी धोती का छोर खोला और कहा, "माँ मैं तेरे लिये गांधी जी की चरणरज लाया हूँ।" सुना तो माँ का जी भर आया। उसने बेटे को छाती से लगा लिया। आँखों से पानी झरने लगा। शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। बेटा भी खुशी-खुशी माँ को देखने लगा।

जगत् के महान् आध्यात्मिक पुरुष

शुक्रवार का तीसरा पहर था। मस्जिद में अपार भीड़ थी। प्रार्थना समाप्त होने पर मौलवी ने एक प्रवचन किया जिसमें उसने कबीर का एक दोहा सुनाया। जनता की आँखें क्रोध से लाल हो गईं और पुजारियों ने एक दूसरे से कानाफूसी की, "मौलवी को आज क्या हो गया है? क्या वह पागल हो गया है? उसने एक काफिर के शब्द उद्धृत किये हैं!" प्रवचन जल्दी से जल्दी ख़त्म कर दिया गया, क्योंकि मौलवी को मालूम था कि कुछ देर से तूफान उमड़ रहा था। अल्लाह-ओ-अकबर का नारा गुँजा कर वह मस्जिद से बाहर निकला और घर चल दिया। जनता ने पुरोहित के प्रति नित्य की भाँति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया और पुरोहित ने समझ लिया कि धर्मगुरु के रूप में उसके दिन लद गये।"

रात की रात में तूफान प्रचंड रूप में फैल गया। जब मुअज्जन का भक्तों को प्रातः-प्रार्थना के लिये बुलाने का समय निकट आया तब एक संदेशहर मौलवी के घर उससे यह कहने आया कि नित्य-नियमों का अनुष्ठान आज कोई और करायेगा और तुम दोपहर को पंचायत के सामने हाज़िर होना। मौलवी ने संदेशवाहक को यह कहते हुए प्रणाम किया कि "द्वार खोलने के लिये धन्यवाद।"

घंटाघर ने बारह बजाये। मस्जिद क्या थी मनुष्यों के चेहरे का विशाल पारावार ही था। पंचायत के प्रधान ने मौलवी को बुलाकर उससे कहा, 'जनता को इस बात का जवाब दो कि तुमने पुरानी लकीर से हटकर काफ़िर का दोहा क्यों उद्धृत किया और वह भी हिन्दी में जो एक ऐसी भाषा है जिस पर ईश्वर ने निःसंदेह जरा भी कृपादृष्टि नहीं डाली, नहीं तो कुरान अरबी में न लिखा गया होता!'

प्रत्येक की दृष्टि उधर घूम गई जहाँ मौलवी खड़ा था और प्रत्येक उत्सुकतापूर्वक उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था। मौलवी ने

भीड़ को प्रणाम किया और धैर्य एवं उत्साहपूर्ण वाणी में कहा, "ऐ ईश्वर के प्यारो, यदि तुम्हारा ईश्वर केवल अरबी जानता है तो वह सारे संसार का ईश्वर नहीं हो सकता,—कम से कम मेरा तो नहीं ही।" यह कहकर वह वहाँ उपस्थित जनता के सामने एक बार फिर झुका और मस्जिद के बाहर चला आया। भीड़ में सन्नाटा छा गया, और जब सन्नाटा भंग हुआ तब उन्होंने देखा कि अपराधी अपने ऊपर गाली-गलौज की बौछार का मौका दिये बिना ही उड़ चुका था और इससे उन्हें निराशा हुई।

उस दिन द्वार जैसे एक ही झटके में खुल गया और उसने उस प्रकाश में प्रवेश किया जो संपूर्ण जगत् को उद्भासित करता है। उसमें ऐसा व्यापक स्नेह और विशालचित्त उदारता थी कि उसने अगले वर्षों में सभी जातियों, धर्मों और देशों के शत-शत प्रशंसकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। उसने कोई भगवे वस्त्र नहीं धारे; न ही शिष्य तैयार करने का कारखाना खोलकर बैठ गया। वह साधारण वेश में घूमता-फिरता। बंबई के एक गली-कूचे में उसकी छोटी सी दूकान थी जहाँ वह प्रतिदिन कुछ उर्दू की पुस्तकें बेचकर अपनी जीविका चलाता। जो कोई एक बार भी उसकी दूकान पर हो आता वह अपने को उसकी ओर इतना अधिक आकृष्ट अनुभव करता कि आगे से वह उसके पास जाने का कोई न कोई बहाना ढूँढ़ निकालता। अपनी रातें वह एक बड़े मकान के एक छोटे से कमरे में बिलकुल अकेले बिताता। वह मौन बैठा रहता, स्मरण-माला हृदय में फिरती रहती। एक दिन उसने कहा था कि उसका पुस्तकें बेचने का धंधा भी उन अनेक मालाओं में से एक था जिन्हें वह प्रतिदिन, नहीं नहीं, प्रति घण्टा जपता था।

"आप भला जीविका कमाने के इस संसारी झगड़े में क्यों पड़ गये?" इनके कुछ प्रशंसकों ने एक बार उनसे कहा, "हम चाहते हैं कि आप निर्वाह की चिंता से मुक्त होकर आराम से रहें ताकि आप अपना सारा समय ध्यान-भजन में लगा सकें। इससे हमें अतीव प्रसन्नता होगी।"

"किंतु यह पुस्तक-विक्रय भी एक प्रकार का भजन-पूजन ही है। कर्म पूजा है ; पूजा कर्म है। और फिर, जिज्ञासु को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि गुलाब के अंतर की सुगंध रुई के फोहे के भीतर छिपी रहे, ताकि कहीं ऐसा न हो कि वह सूक्ष्म अभिमान में फँस जाय।"

"क्या आप पर अपने जीवन में कभी कोई दुःख आये हैं? यदि हाँ, तो आपने उनका कैसे प्रतिकार किया और फिर मन की समता एवं शांति कैसे प्राप्त की?"

उसने उत्तर दिया, "अल्लाह का नाम ही बराबर मेरी एकमात्र शरण रहा है।"

"आपका मतलब है कि आप उसका नाम जपते हैं और कठिनाइयाँ लुप्त हो जाती हैं? ऐसे नुस्खे से कम से कम हमें तो अपने दुःख-दर्द दूर करने में कभी लाभ नहीं हुआ है।"

"जप नहीं, स्मरण; विरह नहीं, मिलन; दुई नहीं एकता", यह था उसका दो टूक उत्तर।

"हम आपकी बात नहीं समझे", प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा।

वह क्षणभर चुप रहा। फिर वह बोला, "जब कभी तुम्हें कोई दुःख-शोक हो, तो खुले मैदान में तारों से जगमग आकाश के तले या समुद्र के किनारे या पर्वत पर बैठ जाओ और तुम्हें उनसे सहानुभूति प्राप्त होगी।"

२

उसकी आँखों में प्रियतम की छवि बसती थी; उसकी आकृति पर्वत-सम प्रतापशालिनी थी, उसका भाल परम प्रभु का पादपीठ था और उसके मुखमंडल पर मृगछौने की सी श्रीशोभा विराज रही थी। जब मैं उससे मिल गया वह अपने एक सह-साधक के घर में पूजा के आसन पर बैठा था। मैं उसे प्रणाम कर पास मैं बैठ गया।

सहसा मूसलाधार वर्षा होने लगी। संत का मौन सरल उद्‌गारों के निर्झर के रूप में फूट पड़ा :

"वर्षा हो रही है। यह प्रभु की कृपा की वर्षा है। यहाँ तक कि धूलि का कण-कण उसकी चाह के प्रकाश में निमज्जित हो रहा है। समुद्र की अतल गहराइयों में सीप का वास है; आज इसने वर्षा के आगमन का समाचार सुन लिया है। यह समाचार इसे किसने दिया? इसका मुँह पूरा खुला हुआ है। वर्षा की बूंद पड़ने की देरी है और यह अनमोल मोती में बदल जायगी।

परंतु इन दिनों प्रेम का करुण क्रंदन करना जानता ही कौन है या उधर कान ही कौन देता है? जिसे देखो विद्योपार्जन के पीछे भाग रहा है। और यह विद्या मनुष्य को प्रियतम के सतत साहचर्य से पृथक् करनेवाले पर्दे के समान है। सुखभोग की चाह-चिंता सभी को खाये जा रही है। दुःख के देवालय में, ईश्वरान्वेषण के मंदिर में देवता की प्रतिष्ठा के लिये भला कौन कभी क्रंदन करता है?

अपनी सारी सृष्टि के भोजन-छाजन का भार उसने अपने ऊपर ले रखा है, किंतु एक शर्त्त पर जो हमने स्वीकार की थी। वह यह कि पश्चिम में सूर्य छिपने के पहले की कुछ घड़ियाँ हम उसी की खोज में लगायेंगे। दिन तो मेले के हो-हल्ले और तड़क-भड़क का मजा लूटने में बीत गया है और घर लौटकर हम क्या देखते हैं कि अंधेरे ने हमें आ घेरा है। हमें धिक्कार है-हम अपने उर के भीतर तक विश्वासघाती हैं।

पुस्तकें भला हैं ही किस काम की? मनुष्य केवल उन्हीं से नहीं जीता, न ही वह रोटी से जीता है। उसे प्रेम के शिक्षण तथा पोषण की भी जरूरत है। यह सबसे महान् सच्चाई है। यदि ऐसा न होता तो प्रियतम शूली को अपनी शय्या न बनाता, न ही प्रेमी अपनी आत्मा को चलनी-चलनी करके कंकालशेष कर डालता।

हमें हाट-बाजार की चाटें पड़ी हुई हैं। हम व्यापारी की चालों में चतुर हैं। हम सदा और-और की याचना करते रहते हैं। हम ईश्वर

से कल के लिये खान-पान की सामग्री माँगते हैं पर हम बढ़ी हुई अभीप्सा के रूप में उसका अगाऊ दाम कभी नहीं देते।

पुरस्कार ही संसारी मनुष्य का परम काम्य है। जागरितावस्था का एक-एक पल वह रुपये-पैसे की माया सीखने में बिताता है। परंतु प्रेमी के लिये, प्रियतम की सत्यप्रतिज्ञता में सरल हृदय से विश्वास करना ही सब कुछ है। आवश्यकता है केवल जिज्ञासु के सच्चा होने की।

हम अपने घावों के लिये मरहम लेने पंसारी के पास जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि परम वैद्य हमारे अंदर ही है और जीवन की सब व्याधियों के लिये उसका रामबाण है दुःख।"

उसका प्रवचन समाप्त हुआ। हम उससे बिदा लेने को अपने आसनों से उठ खड़े हुए। उसने हमें आशीष दी और हमने अपने-अपने घरों की राह ली। रास्ते भर इस गीत का अंतरा मेरे कानों में बराबर गूंजता रहा।

"क्या हुआ, यदि किसी ने अमरता का रसास्वादन कर लिया। जिसने कभी प्रेम नहीं किया, वह वास्तव में कभी जिया ही नहीं। ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य सर्वविद्याविशारद भले ही हो जाय पर यदि शिशु की न्याईं प्रेम का रस नहीं चाखा तो उसकी सब विद्या व्यर्थ की माथा-पच्ची रही।"

जैसे ही मैंने यह गीत गाया आकाश के तारे मुसकरा दिये। गुलाब और चमेली ने आंख मारकर कहा, 'बंसी बजाये चल।'

३

"लगभग चौथाई सदी तक, दिन-रात, मैंने अपने स्वामी; राजा के लिये गाया-बजाया है और बदले में उसने मुझे प्रभूत महार्घ-संपत्ति पुरस्कारस्वरूप प्रदान की है और मेरी योग्यता की स्वीकृति की सूचक अनेकों मुद्राओं से मुझे समादृत भी किया है। पर शोक! अभी तक मुझे आत्मा की वह हर्षमयता कभी प्राप्त नहीं हुई जो समस्त सच्चे कर्म-

का फल होती है। शायद,वह एक ऐसा आशीर्वाद है। जो, 'कृपा-भाव के समान बलात् आयत्त नहीं हो सकता।' ओह, प्रभु का प्रसाद ?"

एक दरबारी गायक एक सायंकाल को इस प्रकार अपने आपसे बातें करता बैठा था। अपने सितार की तारों के मिलान में उसकी निपुणता और उसकी परिष्कृत ध्वनि दोनों इहलोक के एक से एक बढ़कर आश्चर्य थे। संगीत की सेवा करते-करते उसके केश पक गये थे। उसकी सुफेद लहलहाती दाढ़ी वितत रजतधवल ज्योत्स्ना के सदृश शोभती थी। उसके सतेज नेत्रों में उच्चात्युच्च अभीप्सा थी, जब कि उसके मुखमंडल पर विफलता की रेखाएँ प्रतिफलित थीं जो सुवर्णवेष्टित कोटिपति या अहंमन्य विशेषज्ञ की अतिदृप्त सफलता से कहीं अधिक भव्य होती हैं।

साँझ ढलते-ढलते रात हो चली थी, उसकी निराशा ने तीव्र होकर वैराग्य का रूप ले लिया। तब मुअज्जन ने श्रद्धालुओं के प्रार्थना में आने के लिये अजां दी और मस्जिद के घंटों ने शांत एकमेव की पूजा गुँजा दी। तथापि वह अभी वहीं बैठा था जहां उसकी स्त्री उसे कल रात ध्यान-चिंतन की अवस्था में छोड़कर गई थी।

उसकी स्त्री उसे चिंतामग्न-स्थिति में देखकर चकित रह गई और बोली, "समय हो गया है, तुम दरबार जाने के लिये तैयार हुए थे। आज राजा का जन्मदिन है और तुम जानते ही हो कि तुम्हें उसके सामने अपने सर्वोत्तम वेश में पूरी सजधज के साथ उपस्थित होना है।"

"मैं आज वहाँ नहीं जा रहा" उसने उत्तर दिया। "मैंने अपने स्वर्ण-रंजित धंधों से त्यागपत्र देने का निश्चय कर लिया है।"

"क्या ?" उसकी जीवन-संगिनी ने क्रोध और विस्मय-भरी आवाज में पूछा। "क्या तुम चाहते हो कि मैं और मेरे बच्चे भूखों मरें ? क्या मैं इस बुढ़ापे में चिथड़े पहरे फिरूँ और भीख माँगू ?"

"जो होना था सो हो गया। जो चिड़ियों को चुग्गा देता है और जिसने तोते को हरा तथा मोर को रंग-बिरंगे परोंवाला बनाया है वह

तुम्हारा हमारा पेट भी भरेगा। कृपा करके करीमबख्श को बुला दो। मैं चाहता हूँ कि वह मेरा त्यागपत्र महाराज के पास ले जाय।"

उसकी स्त्री फूट-फूटकर रोने लगी, आगामी कल का विचार आते ही वह व्याकुल और व्यथित हो उठी। चिंता की मूर्च्छा दूर होने पर कुछ प्रकृतिस्थ होकर वह अपने पति की आज्ञा का पालन करने के लिये उनके कमरे से बाहर चली आई।

कुछ ही क्षणों में करीबमख्श अपने स्वामी के सामने हाजिर हो गया।

"करीम, यह पत्र लो और स्वयं महाराज साहिब के हाथों में दे आओ।"

करीमबख्श ने अपने स्वामी के हाथ से पत्र ले लिया और उन्हें सलाम करके तेजी से हुक्म बजाने के लिये चल पड़ा। महल के अंदर घुसने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि वह राजा के नौकर-चाकरों में उतना ही सुपरिचित था जितना दरबारियों में उसका स्वामी। महाराजा के कमरे के पास पहुँचकर उसने दरवाजा खटखटाया और घुटने टेककर तथा सिर नवाकर अपनी अमानत सौंप दी और घर की राह ली।

महाराज ने चटपट पत्र खोला, और ज्योंही उन्होंने विषय-वस्तु पर दृष्टि डाली उनके रोंगटे खड़े हो गये, त्योरियाँ चढ़ गईं और होंठ प्रचंड कोप से आकुंचित हो उठे। त्यागपत्र में इस प्रकार लिखा था :

"इधर इतने वर्षों तक मैंने अपने संगीत से राजा की सेवा की है, पर अब मेरी आत्मा अपने गान से 'राजाओं के राजा' की सेवा करने को आतुर है। अब से दरबार का ठाठ-बाट मेरा रंगमंच नहीं होगा; नदी का किनारा ही अब मेरा घर होगा और मेरे 'गिने-चुने' श्रोता होंगे— समुद्र की लहरें और वन का मर्मर।"

कुछ देर के लिये तो महाराज मानो जमीन में गड़ गये, तब उनका भरा हुआ गुबार गाली-गलौज की बौछार के रूप में फूट पड़ा। उनका पारा चोटी पर चढ़ गया और वे चिल्लाकर बोले "कृतघ्न कुतिया,

पितृपरंपरा से मैं जो तेरा प्रतिपालन करता आया हूँ उसका तू मुझे यही पुरस्कार देना चाहती है। सांप को हिमधवल दूध पिलाकर मैंने कैसी मूर्खता की।"

मध्याह्न का समय था; जन्मदिन का समारोह अपनी पूरी बहार पर था। दरबारी-गायक का अस्तित्व ऐसा भुला दिया गया जैसे कोई बुरा स्वप्न हो, राजाओं और उसके चाटुकारों के, राजकुमारों और उनके पिछलगों के रंग-ढंग ऐसे ही होते हैं। कल के आदर्श आज युगविरुद्ध रूढ़ियाँ भर रह जाते हैं।

वर्ष पर वर्ष बीत गये। गायक नदी के किनारे एक दीन-हीन कुटिया में रहता था। उसका कुटुम्ब काल के कराल करों ने उससे छीन लिया था। अब उसका एक मात्र साथी था उसका सितार। इसी से वह प्राची की ऊषा और रात के तारों का स्वागत करता था। उसे लगता कि शब्द प्रभु के साथ मिलन में बाधा डालेंगे, अतः उसने बजाने के साथ गाया कभी नहीं।

एक दिन जब वह बैठा-बैठा लहरों का खेल देख रहा था उसने गाना शुरू किया :

"केवट, मुझे पार ले चलो।" गीत ने उसे ग्रस लिया; वह गाने की मस्ती में खो गया। गाना चलता रहा।

"किधर, यात्री, किधर?"

"राजा के महल की ओर, राजा के-राजाओं के राजा के।" और जैसे ही उसने अंतिम कड़ी गाई उसकी आँखें सुदूर दिव्यालोक से भर उठीं, उसका तन-बदन ओज और तेज से व्याप्त हो गया। संसार ने कहा, "वह मर गया है।", पर द्युलोक में देवों ने विजयगान गाया। "वह जीवित है, वह जीवित है, वह जीवित है।" तब मुझे एक आवाज सुन पड़ी जैसे ताली बज रही हो। वह आवाज थी विधाता की, जो स्वागत की और विस्मय की हर्षध्वनि कर रहा था।

धन्य रवीन्द्रनाथ

कई बरस हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर कराची गये थे। वहाँ वे एक बहुत बड़े धनाढ्य किन्तु साधु प्रकृति सज्जन के मेहमान थे। अपने मेज़बान की आलीशान कोठी में प्रवेश करते ही गुरुदेव ने कहा—"यदि हो सके तो मुझे एक ऐसा कमरा दीजिए, जिसका मुँह पूरब की तरफ़ हो।"

मेज़बान ने जवाब दिया—"बड़ी ख़ुशी के साथ, पर मुझे डर है वहाँ आपको इतनी अच्छी हवा न मिलेगी।"

इस पर गुरुदेव ने कहा—"इसकी फ़िक्र न कीजिए। असल में मुझे सूर्य भगवान से प्रेम है और रोज़ प्रातःकाल मैं चुपचाप उनकी दयामयी दृष्टि और उनके कोमल स्पर्श की प्रतीक्षा करता हूँ।"

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दुस्तान के उन प्राचीन ऋषियों के समान थे, जो रोज़ प्रातःकाल उस सूर्य की उपासना किया करते थे, जो परमात्मा के अनन्त ज्ञान और उसकी जीवनदायिनी शक्ति का एक प्रज्वलित प्रतीक है, और उससे प्रार्थना करते थे कि वह उनके दिमाग़ों को रोशन करे और उनकी आत्माओं को अपनी अनन्त आत्मा के साथ मिलावे।

इसलिए यह क़ुदरती बात थी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा ज्योति का अतृप्त प्रेमी आजकल के इस भयंकर युद्ध और रक्तपात को देखकर ऐसा अनुभव करता कि मानो उसकी आत्मा को सूली पर चढ़ाया जा रहा है। तोपों के धुएँ ने हम सबके परमपिता परमात्मा के तेजपुञ्ज चेहरे को क़रीब-क़रीब ढक रखा है। और दुःख इस बात का है कि लड़ाई के अस्त्रशस्त्रों के तुमुलनाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दिल से निकली हुई शान्ति की अपील किसी को सुनाई न दी, यहाँ तक कि 'मनुष्य के साथ मनुष्य की अमानुषिकता' के बोझ, उसके दबाव और उसके डंक को न सह सकने के

कारण ही अन्त में वे तीन वर्ष पूर्व आज के ही दिन, यानी ७ अगस्त को हमारी इस दुनिया से चल बसे, और एक ऐसी दुनिया में जा पहुँचे, जो हमारी इस धुएँ से काली हुई हुई पृथ्वी की निस्बत अधिक ज्योतिर्मय है।

कवि उस पगलाई हुई, होशगुम और शैतानी प्रभुता के उपासक नहीं थे, जो मनुष्य को भ्रष्ट करती है। वे उस विनम्र किन्तु शक्तिशाली प्रेम के उपासक थे, जो मनुष्य के हृदय को प्रेरित करता है और मनुष्य को ओज प्रदान करता है। अपनी ज़िन्दगी भर कवि ने ज्योति का एक ऐसा मन्दिर खड़ा कर देने की कोशिश की और उसके लिए परिश्रम किया, जहाँ एक ही पाठ पढ़ाया जाता है और एक ही नियम का पालन किया जाता है। वह पाठ या वह नियम यह है कि एक दूसरे को लगन के साथ समझने की कोशिश करो और एक दूसरे से प्रेम करो। उन्होंने अपने गीतों और अपने उपदेशों के ज़रीये दुनिया के लोगों को इस बात के लिए निमन्त्रित किया कि वे अपनी-अपनी प्रेम की अञ्जलि लेकर और जिस सत्य का उन्होंने अपने भीतर साक्षात्कार किया है, उसकी अंजलि लेकर एक वेदी पर चढ़ावें। किन्तु जब उन्होंने यह देखा कि लोग बजाय इन चीज़ों के परस्पर घृणा, अविश्वास और असत्य लेकर आगे बढ़े, तो निराशा से कवि का दिल बैठ गया। आन्तरिक वेदना के स्वरों में कवि ने चिल्लाकर कहा—

"परमात्मा चाहते हैं कि उनका मन्दिर प्रेम से निर्माण किया जावे, किन्तु लोग प्रेम की जगह पत्थर जमा कर रहे हैं।"

कितने दुःख की बात है कि आज लोग इस मामले में अपने पूर्वजों से भी एक कदम आगे बढ़ गये। वे अब परमपिता का मन्दिर निर्माण करने के लिए पत्थरों की जगह बम के गोले, लकड़ियों की जगह संगीनें और सीमेण्ट की जगह बारूद जमा कर रहे हैं।

जिस तरह कवि को पाशविक शक्ति पर अधिक विश्वास नहीं था, उसी तरह उनके दिल में धन का भी अधिक मूल्य न था, क्योंकि धन और शक्ति दोनों मनुष्य को मनुष्य से फाड़ने वाली चीज़ें हैं। धन मनुष्य

को घमंडी बना देता है और इस विश्व में शान्ति और सामञ्जस्य की गाड़ी को उलट देता है। जिस आदमी को अपने धन का घमंड होता है, वह दूसरों के साथ बर्ताव करने में आमतौर पर कुल्हाड़ी के सिद्धान्त से काम लेता है। वह उस चाबी के उपयोग को नहीं जानता जिससे मानवता के मन्दिर के दरवाज़े का ताला खुल सकता है। इसलिए बेदर्दी और बेढंगेपन के साथ बजाय चाबी के वह कुल्हाड़ी से काम लेने लगता है। कवि ने एक बार एक पुस्तक में हस्ताक्षर करते हुए यह लिखा था—

"प्रभुता अपने बेढंगेपन से चाबी को खराब कर देती है और कुल्हाड़ी से चाबी का काम लेने लगती है।"

यह सब गड़बड़ इसलिए होती है क्योंकि हम मनुष्य जीवन के सच्चे आदर्श को नहीं समझ पाते।

यह सच्चा आदर्श क्या है? यह आदर्श मानव-कल्याण है। कवि के अनुसार इसका मतलब है—"आत्मा का पूर्ण विकास या आत्मा की भरपूरता।" इसके ख़िलाफ़ धन को वे 'बड़प्पन का भार' कहा करते थे। 'आत्मा की भरपूरता' और उसकी सच्चाई पर कवि का शान्तिनिकेतन एक चमकती हुई टीका है। शान्तिनिकेतन में मनुष्य-प्रेम और ईश्वर-प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम और सत्य-प्रेम, सादगी और हृदय की शुद्धता, सेवा और निस्वार्थता, ध्यान और कर्म, इन सब में सामंजस्य पैदा करने और इन्हें एक स्वर में लाने की कोशिश की गई है।

दुनिया को शान्तिनिकेतन जैसे केन्द्रों की बहुत सख्त ज़रूरत है। शान्तिनिकेतन उस मार्ग की ओर उँगली उठा कर संकेत कर रहा है, जिस पर जल्दी या देर में मनुष्य-समाज को चलना पड़ेगा। सम्भव है कि इस महायुद्ध के समाप्त होने पर मनुष्य-समाज इस बात को समझ सके। किन्तु जो भी हो, हम लोग शान्तिनिकेतन वाले, सब सदा ईश्वर से इस बात की प्रार्थना करते रहेंगे कि हमारे कामों में और हमारी उपासना में रवीन्द्रनाथ की आत्मा सदा मौजूद रहे।

धन्य रवीन्द्रनाथ!

रवीन्द्रनाथ और साहित्यिक आदर्श

कुछ समय पूर्व, एक दिन, जब मैं रवीन्द्रनाथ की एक पोथी पढ़ रहा था, तो सहसा मेरे कानों में एक गीत की भनक पड़ी। मैंने अपने कान खड़े कर लिये और जरा अधिक सावधान होकर सुनने लगा। मेरा एक पड़ोसी बड़े सम्मोहक आनन्द के साथ गा रहा था। गीत के भाव कुछ इस प्रकार थे—'निश्चय ही दुनियावी मनुष्य निरा मूर्ख है। उसके चतुर्दिक, रात और दिन, आनन्द का महासागर लहरा रहा है और वह चिल्ला-चिल्ला कर लोगों से कह रहा है कि मैं प्यासा हूँ! अगर वह इसमें थोड़ा गहरा गोता मार सके, तो जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकता है। पर वह तो संसार की ओर ही देखता है और इसकी टेढ़ी-मेढ़ी भूलभुलैया में भ्रान्त हो जाता है। यदि वह केवल अपने मनश्चक्षु से सब चीजों को देख सकता, तो उसे सर्वत्र आनन्द का सत्य और सत्य का आनन्द ही दिखाई पड़ता।'

कुछ समय बाद गान समाप्त हो गया; पर मेरी जिस विचार-सरणि को वह स्पन्दित कर गया था, उसकी यात्रा मेरी आत्मा की परतों में होकर जारी रही। थोड़ी देर बाद वह थम गयी, और मैंने अनुभव किया कि उसने रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक आदर्श के प्रति मेरे हृदय की आँखें खोल दी हैं। मैं सोचने लगा, आखिर समूचे सत्साहित्य का आधार-भूत सिद्धांत क्या है? वह है सर्वप्रथम लेखक द्वारा अपनी और बाद में सब चीजों की आत्मा को पहचानना। पर इसके विपरीत अधिकांश लेखक दूसरा मार्ग ग्रहण करते हैं। वे हमारे चारों ओर के रहस्यपूर्ण जगत् को जानने के लिये बुद्धि का सहारा लेते हैं। खेद है कि यह उनके लिये एक धुँधले शीशे के टुकड़े से अधिक सहायक सिद्ध नहीं होती, जिससे उन्हें धुँधला ही दिखाई पड़ता है। कदाचित् इसीलिये प्राचीनों ने मस्तिष्क की 'यथार्थ को काटने वाला' कह कर परिभाषा की है।

सच तो यह है कि ज्योंही आदमी सजग रूप से अपनी आत्मा से साक्षात्कार करेगा, वह अपनी सारी अभिव्यक्ति को उसी के रङ्ग में रँगा पायेगा, क्योंकि आत्मा मजनूँ की तरह है, जिसने हर जर्रे में लैला को ही पाया है ! आत्म-साक्षात् हुआ कोई भी व्यक्ति अलादीन के इस चिराग़ को लेकर वस्तु-जगत् की अंधेरी से अंधेरी गुफा में बैठ सकता है। वहाँ से वह कीमती मोती ही चुनकर लायेगा। अपने-आप में हुआ यह आत्म प्रकाश एक के बाद एक करके जीवन के ही पहलू की आत्मा को प्रकट कर देता है, क्योंकि आत्म-प्रकाश का आनन्द प्रत्येक वस्तु को आत्माभिव्यक्ति के उल्लास से भर देता है। अतः आत्मसंवेदन के क्षण में यह समूचा ब्रह्माण्ड एक हो जाता है—भले ही इसके बाह्य रूपान्तर कितने ही क्यों न रहें।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति में स्वच्छन्दता की भावना भर जाती है, जो उसके मस्तिष्क की निश्चित रूपों तथा भ्रान्तियों के परावलंबन की शृंखला को कड़ी-कड़ी खोल देती है। इस प्रकार व्यक्ति को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह उसके गुफ़ा में रहने वाले उस आदि-पुरुष के आनन्द-सा ही होता है, जिसकी अपनी गुफ़ा की दीवारों पर छाया की आँख मिचौनी देखने के बाद एक दिन, अपनी छोटी दुनिया से बाहर आने पर, यथार्थ से साक्षात् हुआ था। और कहना न होगा कि यह स्वच्छन्दता की भावना ही 'अपने से इतर किसी शक्ति या व्यक्ति' के प्रति सम्पूर्ण आत्मार्पण की जननी है। 'जीवन-देवता' की भावना इसी का परिणाम है; जिसके प्रति रवीन्द्रनाथ की ममतामयी भक्ति रही है। जैसा कि एमर्सन ने एक जगह कहा है—'लेखक सर्वशक्तिमती आत्मा के प्रति नत होकर ही महान् है।'

पर आत्म-प्रकाश के आनन्द, विश्व की मूलभूत एकता और आत्म की स्वच्छन्दता के साथ-ही-साथ नवीनता की भावना का भी उदय होता है। हर सूर्योदय न केवल सृष्टि के उस प्रथम प्रभात को ही याद दिलाता है 'जब नक्षत्रों ने गाया था'; बल्कि अपने साथ विशुद्ध मौलिकता का

सौरभ भी लाता है। इसीलिए लेखक इसका अछूते सौन्दर्य और प्रेम की सी भावना से स्वागत करता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ के गीतों का प्रधान स्वर रहा है—'तुम मेरे पास सदा चिर-नवीन के रूप में आते हो!'

किन्तु भावों का आत्मा के रूप में प्रकटीकरण अथवा आत्मा का भावों में प्रवेश लेखक के हृदय की उस प्रेरणा पर ही अवलम्बित है, जिसका मूलमन्त्र है : 'शान्ति से किसी को पहचाना जा सकता है।' इसके लिये उसे एमर्सन के कथनानुसार 'एकान्त का नववधू की तरह आलिंगन करो' वाली बात को ही चरितार्थ करना होगा। और रवीन्द्रनाथ ने कई वर्षों तक पद्मा के किनारे तथा शान्तिनिकेतन के ग्राम्य वातावरण में इस नववधू की आराधना की है। अतएव यह कहना अत्युक्ति न होगी कि शान्तिनिकेतन ने रवीन्द्रनाथ की आत्मा की वैसे ही रक्षा की, जैसे कि उन्होंने शान्तिनिकेतन की आत्मा की। एक धर्म वाक्य है : 'शान्त होकर देखो और जानो कि मैं ईश्वर हूँ।' इसी तरह विश्व का भी कथन है : 'शान्त होकर देखो और जानो कि मैं भी ईश्वरीय हूँ।'

पर आज के लेखक तो दौड़ और यथार्थ में ही विश्वास करते हैं। वे यह भूल जाते हैं, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, कि यथार्थ पशुता है और वे खाज से पीड़ित अशान्त व्यक्ति की तरह इधर-उधर दौड़कर आत्मा के प्रकाश को उसी तरह असम्भव कर देते हैं, जिस प्रकार कि बिना हवा के वातावरण में किसी भी चीज़ का जलकर प्रकाश करना असम्भव है। भले ही उनकी गति सिनेमा की फ़िल्म की-सी हो ; पर वे अपने-आपको हिमालय की-सी ठोस महत्ता और वासन्ती के सुरभिमय प्रवाह से वंचित कर लेते हैं।

संक्षेप में रवीन्द्रनाथ का साहित्यक आदर्श आत्मा के सत्य और सत्य की आत्मा से उद्भूत था। यही कारण है कि जहाँ उनकी प्रतिभा ने हमें ज्वलन्त सत्य (और सच मानिए, सत्य ज्वलन्त ही है) प्रदान किया है, वहाँ अधिकांश लेखक स्वयंसिद्ध बातों की चिनगारियाँ ही बिखेर पाए हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साधना

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर (जिनकी श्राद्ध-तिथि ७वीं अगस्त है) पहले साधक थे और बाद में कवि। अगर कवि का यह धर्म है कि वह अदृश्य, आन्तरिक या आत्मिक जगत् के रूप-रंग, संगीत-सुगन्ध, आकांक्षा-आदर्श आदि की खबर बाहर के जगत् में जो लोग रहते हैं, उनको दे, तो उसे साधना करनी ही पड़ती है। नहीं तो उसकी आँखें और अक्ल दोनों उसे एक भूल-भुलैयाँ का नाच नचाते हैं और उसकी कल्पना-शक्ति उसे एक ख़ामख़याली (और खाली) दुनिया में व्यर्थ अपने हाथ-पाँव मारने को छोड़ देती है। गुरुदेव प्रकृति के प्रेमी और पुजारी तो जन्म से ही थे, मगर प्रकृति का प्रीतम या पुरुष जो एक गुह्य हृदय-गुफा में रहता है, उसको पहचानने और उससे प्रेम, प्राण और प्रज्ञा पाने के लिए उन्हें साधना करनी पड़ी। इस साधन के कई सूत्र थे।

उनकी साधना का पहला सूत्र गायत्री-मंत्र था, जिसके रटन और मनन से उन्हें प्रत्यक्ष प्रतीत हो गया कि जो विभूति—व्यक्ति या शक्ति—संसार-चक्र को चलाती है, वही विभूति मनुष्य की बुद्धि (जिसमें प्राण और आत्मा का संगम है) को भी चलाती है। इसलिए सृष्टि और 'स्व' में जो एक सामंजस्य है, उसकी साधना उन्हें जीवन के हरएक क्षेत्र में करनी चाहिए। मगर इस विश्वमय विभूति को सच्ची और पूरी तौर पर यदि पहचानना है, तो उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा, क्योंकि उसे केवल नियम के रूप में देखकर उसका शासन मानने में मनुष्य की आत्मा कुछ विरस-सी रहती है और वह शान्ति और सन्तोष को भी नहीं पा सकती। इसलिए उन्होंने उससे पिता-पुत्र का सम्बन्ध जोड़ा और इसीलिए उनकी साधना का दूसरा सूत्र हुआ—'पितानोऽसि, पितानोबोधि।' पिता-पुत्र का सम्बन्ध एक अजीब सम्बन्ध है, क्योंकि इसमें लालन-पालन

और शासन दोनों की जगह है। और प्रेम का वही सम्बन्ध सच्चा हो सकता है, जिसमें इन दोनों वृत्तियों या विशेषणों का आन्तरिक सम्बन्ध हो—अर्थात् प्रेम की आत्मा का प्रेय सहानुभूति और संयम, नियम और नेह के संगम में ही समाया है। इसलिए पिता जो-कुछ पुत्र के लिए करता है, वह हमेशा कल्याणमय होता है, ऐसा एक विश्वास पुत्र के मन में बैठ जाता है।

और कल्याणमय वह है, जो सत्यं, शिवं और सुन्दरम् है। इसलिए गुरुदेव ने अपनी साधना का तीसरा सूत्र बनाया—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् मंत्र। मगर कल्याणमय तो वह है, जो आनन्दमय है और आनन्द का मूल कोई छोटी-मोटी वस्तु तो हो ही नहीं सकती। इसलिए पिता की यही अभिलाषा रहती है कि पुत्र किसी 'भूमा' की इच्छा रखे और उसकी आराधना करे। यही कारण था कि गुरुदेव की साधना का चौथा सूत्र था उपनिषद् का वाक्य—'भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।' इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सुख की सच्ची चाबी भूमा की आराधना में है। मगर मनुष्य, जो एक बात कई बार भूल जाता है, वह यह है कि भूमा स्वच्छन्दता से नहीं, बल्कि संयम से मिलती है। इसीलिए तो शास्त्र कहता है—'संतोष परमस्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्' (जो सुख की इच्छा करता है, उसे संतोष के साथ संयत होना चाहिए)।

मगर भूमा एक सीधी लकीर की तरह नहीं है। वह तो है एक गोल दायरे की तरह, और यह गोल दायरा सबको अपने अन्दर ले आता है—किसी को हरिजन की तरह बाहर नहीं छोड़ता। इसीलिए तो जो-कुछ सच है, सुन्दर है, शिव है, प्रेममय है, वह सब वर्णों का है, किसी विशेष वर्ण का नहीं। वहाँ किसी किस्म की छूत-छात नहीं। जो-कुछ भूमा या सच है, वह ससीम और असीम के समन्वय का ही परिणाम है। इसलिए भूमा या सच केवल संसार के जानने में या केवल जिसने संसार रचा है, उसके जानने में नहीं है। वह दोनों को एक साथ जानने

में ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि गुरुदेव का एक बड़ा प्रिय उपनिषद् का मंत्र था—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रतः ॥

उनकी एक उपमा है (जो बार-बार उनकी कविताओं में आई है) कि पक्षी को अपने पूर्ण जीवन के लिए नीड़ और आकाश दोनों की जरूरत है, नहीं तो वह जीवन के आनन्द या जीवन की उमंग से वंचित रहेगा। केवल नीड़ में रहने से उसे ऐसा लगेगा कि उसका घर एक क़ैदखाना है और सिर्फ आसमान में रहने से उसे लगेगा कि उसे कहीं भी कोई आश्रय या आधार नहीं मिलता। हाँ, उसे संगीत जरूर मिलता है, मगर सिर्फ संगीत से तो उसका सब-कुछ सिद्ध नहीं हो सकता और न ही उसका पेट भर सकता है। इसलिए नीड़ उसे आश्रय और आराम के लिए चाहिए ही और आकाश उसकी आत्मा को गीत गाने की प्रेरणा या पढ़ने की प्रेरणा देने के लिए चाहिए। इसलिए गुरुदेव की साधना का पाँचवाँ सूत्र था—सदा ससीम और असीम के बीच सम्बन्ध जोड़ना।

इस पंचमुखी साधना का फल यह हुआ कि गुरुदेव को हर जगह एक ही विभूति का राज्य या एक ही प्रीतम की लीला दिखाई देने लगी। इसलिए आखिर में उनके जीवन का मूल मंत्र ईशोपनिषद् का यह मंत्र बन गया—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

कवि का शान्ति-पथ

शान्तिनिकेतन एक द्रष्टा कवि का दिखाया हुआ शान्ति-पथ है। कवि आज जो कुछ सोचता अथवा करता है, मानव-समाज अनागत भविष्य में उसी का अनुसरण किया करता है। कवि को इसीलिए मानव-समाज का नियन्ता कहा जाता है। किन्तु दुर्भाग्य आदमी का इसी जगह है कि वह कवि के निर्देश, उसके स्वप्न और उसकी आवाज को सुन कर भी अनसुनी कर देता है।

हमारे युग में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने बार-बार अपने विशिष्ट स्वर में जीवन की सर्वांगीण सार्थकता प्राप्त करने का आदर्श दुहराया था। इसी सार्थकता में समग्र मानव-समाज का सामंजस्य, सम्मिलित संगीत की मंगल-ध्वनि की आवाज या आश्वासन छिपा है। इसी सामंजस्य और समवेत मंगलगान के अंतर में सत्य की पूर्णता भी व्याप्त रहती है, सौन्दर्य की प्रेरणा भी।

धर्म में मनुष्य के सबसे सुन्दर, सब से उदात्त सपने छिपे होते हैं, इसीलिए वह उसके जीवन का सर्वोपरि सत्य माना जाता है। किन्तु धर्म को अपनी चरम सार्थकता उसी समय प्राप्त होती है जब उसमें एक ओर प्रकृति और पुरुष का पूर्णतम गठबंधन संपन्न होता है और दूसरी ओर मनुष्य तथा मनुष्य की भावनाएँ दोनों एक दूसरे के प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाएँ। अतएव जहाँ कहीं भगवान् की मानवीयता और मनुष्य की भगवती शोभा व्यक्त होती है वहीं हमें धर्म का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। मनुष्य वहाँ सीमाहीन, व्यापक, पूर्ण और सार्वभौम मनुष्य होता है। यही कबीर का 'बेहदी' मैदान है। धर्म का अर्थ इसी अर्थ में सार्थक है कि वह पूर्णता तक पहुँचनेवाले सेतु का निर्माण करता है। मनुष्य के अंदर सोये हुए पूर्ण 'पुरुष' को जगाता है।

इसी पूर्ण और सार्वभौम मानव की परिकल्पना में, उसे चरितार्थ करनेवाले क्रियाकलापों में सत्य का प्राणवान सक्रिय रूप प्रकाशित होता है। इस प्रकार से सारे बंधन शिथिल होकर दूर होते हैं। फिर वे बंधन राजनीतिक हों या आर्थिक, सांसारिक हों या भौगोलिक। इसी मुक्ति में मनुष्य शान्ति की उपलब्धि करता है।

वस्तुतः शान्तिनिकेतन कवि का ऐसा ही एक प्रयोग है जिसमें शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में कवि ने इसी निर्विशेष पूर्ण मनुष्य के विकास की साधना करनी चाही थी। उसकी हवा में यही आदर्श बसा हुआ है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य भी ऐसे ही वातावरण की सृष्टि करता है जहाँ पूर्णता और शान्ति की ओर छात्रों का चित्त सहज भाव से बढ़ सके। इसीलिए यहाँ विरोध को स्थान नहीं मिलता। शिल्प और विज्ञान, नगर और ग्राम, पूर्व और पश्चिम, कुलीन और अंत्यज के विरोध के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है। आदर्श और व्यवहार यहाँ मिलजुल कर रहना चाहते हैं। शान्तिनिकेतन प्रकाश के उस उज्ज्वल शतदल की तरह है जिसमें जीवन के समस्त पहलुओं की सार्थकता छिपी हुई है और जो पूर्णता की खुशबू फैलाने का प्रयास कर रहा है। स्वार्थ की गंध से जब दम घुटता हो तब शान्तिनिकेतन का अस्तित्व मनुष्य के सौभाग्य की घोषणा करता है।

शान्ति इसी परिपूर्णता का दूसरा नाम है। शान्ति में वर्जन की जगह नहीं। वह जीवन के तत्त्वों को छोड़कर नहीं, उनके सहित पूरी होती है। कविगुरु इसी से संसार-त्यागी नहीं थे। वैराग्य-साधन से प्राप्य मुक्ति को उन्होंने छोड़ दिया था। वे शत-लक्ष बातियों में जीवन-ज्योति जगाना चाहते थे। प्रेम को इसीलिए उन्होंने गले लगाया। जो प्रेम के पारस को पा लेता है उसके लिए क्या खरा और क्या खोटा। प्रति अणु-परमाणु को वह अपने जादू से छू कर महान् बना देता है। यह शक्ति प्रेम में ही होती है। इसीलिए प्रभु को प्रेममय कहा गया है।

हमारे संघर्षमय, द्वेषमय मानव समाज के लिए कवि ने जो औषधि

दान की है वह है सार्वभौम निर्विशेष मनुष्य के प्रति प्रेम की भावना। यह मनुष्य न इस देश का है न उस जाति का, न इस हैसियत का है न उस मिल्कियत का। वह सामान्य मनुष्य है जो एक ही आशा-आकांक्षा से बना है, एक ही पूर्णता का प्रत्याशी है।

संसार का सब से बड़ा दोष अगर कुछ है तो वह जो खण्ड को पूर्ण से विच्छिन्न करता है। जब एक अपने लाभ के लिए सर्वजन की लाभ-चिन्ता को भूल जाता, जब वह व्यापक मङ्गल में ही अपना मङ्गल नहीं देखता, बल्कि अपने लाभ को चुराना चाहता है, जब वह एकांगी होकर शिल्प, विज्ञान अथवा व्यवहार शास्त्र के किसी एक ही पहलू को सर्वोपरि समझता है, तभी वह मानव जीवन के साज-संगीत को बेसुरा कर देता है। स्वर की पूर्णता सहति में है, विश्लेषण में नहीं।

इसीलिए पुराकाल के महान साधकों के समान शान्तिनिकेतन भी पूर्णता की साधना में शान्ति के आनयन के लिए परम पूर्ण का आह्वान करता है अपने ज्ञान में, कर्म में, भाव में, व्यष्टि में भी और समूह में भी धर्म और मंगल का सूत्र ही एक मात्र वह बंधन है जो सब को एक करता है। शान्ति की संस्थापना है। शान्तिनिकेतन उसी धर्ममय की उपासना करना चाहता है, जो बहु वर्णों में भी एक है, जो अपनी बहुल शक्ति के द्वारा मनुष्य मात्र का भरणपोषण करता है, जो आदि में भी है और अन्त में भी, जो भागवत है, हम उसी के निकट प्रार्थना करते हैं कि वह हमारा मंगल सिद्ध करे, हमें सबके साथ कल्याण पथ की ओर प्रेरित करे।

कुछ संस्मरण

महामना पंडित मालवीय

बनारस की सभी गलियाँ बाबा विश्वनाथ के मन्दिर की ओर जाती हैं। दिन भर इन गलियों में आपको यात्रियों की भीड़ दिखाई देती है। देश के कोने-कोने से यात्री आकर विश्वनाथ के दर्शन का पुण्य-लाभ करते हैं। साधू-सन्यासियों की भी भीड़ लगी रहती है। मंदिर के आस-पास की गलियों में हल्ला-गुल्ला मचा रहता है। गन्दगी इतनी रहती है कि कोई ठिकाना नहीं। मन्दिर के भीतर बाबा विश्वनाथ की मूर्ति का पवित्र वातावरण और बाहर गन्दगी का यह नरक, दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं।

दिन का तीसरा पहर था। मूर्ति के चरणों के निकट—जो अनन्त, असीम और अनादि का साकार स्वरूप थी—एक रेशमी धोती पहने ऊँचे क़द के व्यक्ति बैठे थे। उनकी रोयेंदार छाती पर शुभ्र यज्ञोपवीत पड़ा हुआ था जो उनके द्विज होने की गवाही देता था। उनके निकट धर्म-ग्रंथ पड़ा हुआ था जिसमें परमोच्च, परम पवित्र और मानव की उपासना संकलित थी। निकट ही मंदिर का पुजारी चुपचाप इस पूजा-स्थित व्यक्ति को देख रहा था।

ध्यानावस्थित भक्त की आँखें मुँदी हुई थीं। देखने से यह भी नहीं मालूम पड़ता था कि वह व्यक्ति साँस ले रहा है। क्योंकि शरीर में कोई हरकत नहीं मालूम होती थी। वह विश्वनाथ के साथ एकाकार हो रहा था। कौन कह सकता है कि जाग्रति की प्रकाशपूर्ण गहराई की किस तरंग में बैठकर वह अपने हृदय की महती आकांक्षा को प्राप्त करने की चेष्टा में तल्लीन था। वे आँसू-जो रह-रहकर उसकी आँखों से नीचे बह रहे थे इसकी सूचना दे रहे थे कि भौतिक तत्त्व गलकर

इन्हीं आँखों की राह बह रहा है। तीन घंटे बीत चुके जब भक्त ने अपने कर्त्ता के ध्यान में मन लगाया था, ऐसा कर्त्ता जो मनुष्य की इच्छाओं, उसके कार्य और उसकी उन्नति का आलोचक और सज़ाजज़ा देने वाला है। धीरे-धीरे संध्या-आरती का समय आ पहुँचा। मंदिर के दीप जला दिये गये। भक्तों की मंडली पीतल के कटघरे के चारों ओर भक्तिपूर्ण श्रद्धा के साथ खड़े-खड़े कुछ बेचैन होने लगी। पुजारी और उसके सेवकों ने मन्त्र-पाठ प्रारम्भ कर दिया किन्तु तीसरे प्रहर से जो भक्त परम प्रभु के चरणों में ध्यान में मग्न बैठा था वह ज्यों का त्यों बैठा रहा।

सहसा उसने अपनी आँखें खोलीं फिर खड़े होकर मस्तक झुकाया, और बाबा विश्वनाथ के चरणों में साष्टांग दण्डवत किया। फिर खड़े होकर मन्दिर में भक्तों और सड़क में भीड़ की दृष्टि से बचते हुए अपनी जगह वापस लौट आया।

उपसमिति के सदस्य जिन्होंने अपनी योजना पेश कर दी थी, चेयर-मैन के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो उनके बीच से सहसा उठकर चल दिये थे। समिति के सदस्य दोपहर से ही वहाँ बैठे थे और जब उन्होंने चेयरमैन को आते हुए देखा तो सन्तोष की साँस ली। चेयरमैन ने आसन पर बैठते हुए कहा—'महानुभावो! इतनी देर आपको यहाँ बैठाने के लिए मुझ को दुख है। मैं विश्वनाथ के मन्दिर में गया था ताकि इस योजना पर उनकी स्वीकृति ले सकूँ और मुझे आपको यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि हमारे नम्र प्रयत्नों को बाबा विश्वनाथ ने स्वीकार कर लिया।' उपसमिति के सदस्य आँखें गड़ाकर आश्चर्य से अपने चेयरमैन की ओर देखने लगे। उनके मस्तक पर वह प्रकाश था कि जो बाबा विश्वनाथ के हृदय में स्थित है। और क्या आप जानते हैं कि वे चेयरमैन कौन थे?—महामना पं० मदनमोहन मालवीय।

दीनबन्धु एंड्रूज़

पाँच अप्रैल सन् १६४० को जिस दिन दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज़ की मृत्यु हुई उससे कुछ पहले स्वर्गीय महादेव देसाई उनसे मिलने

कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी अस्पताल में गये थे। स्वर्गीय एंड्रूज़ ने महादेव देसाई से यह कहा कि—"भारत की स्वतन्त्रता बहुत निकट है – वह अत्यन्त निकट है।" स्वर्गीय एण्ड्रूज के स्वरों में भावानात्मक आनन्द था। उनकी दृष्टि में प्रकाश था और उनकी कल्पना में भव्यता थी।

उस समय बहुत से लोगों ने उनके इस बयान को एक सम्भावना मात्र समझा किन्तु क्या वे सन्तों जैसे विश्वास और उत्साह के साथ समाचार-पत्रों और सभाओं द्वारा इस देश की स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए बीस वर्षों तक प्रयत्नशील नहीं रहे? बहुत से ऐसे लोग थे जो इस विश्वास को एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी की तरह समझते थे कि जिसके निकट भविष्य में पूरे होने की बहुत कम सम्भावना थी। अधिक से अधिक वह एक ऐसी घटना की छाया की तरह दिखाई देती थी जो आशा के क्षितिज पर झलमला रही थी।

और फिर भी उनकी मृत्यु के बाद सात वर्षों के दौर ने उनकी कल्पना की सत्यता को सिद्ध कर दिया। आज इससे कौन इन्कार कर सकता है कि स्वाधीनता की नियामत हमारी मुट्ठी में है।

इसलिये यह उचित ही है कि अपनी इस राष्ट्रीय आत्म-प्राप्ति के अवसर पर हम कृतज्ञता के साथ दीनबन्धु एंड्रूज़ को याद करें।

हमारे विस्फोटक भविष्य के प्रभात के वे अग्रचेता थे और समस्त विश्व के पतितों और दलितों के वे मित्र थे। दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज़ और उनके सुयोग्य पूर्वगामी ए० ओ० ह्यूम और विलियम वैडरवर्न जैसे अंग्रेज़ गांधी जी के राजनैतिक पूर्वचेता गोपालकृष्ण गोखले के सिद्धांतों पर प्रतिभापूर्ण व्याख्या की तरह थे। स्वर्गीय गोखले ने कहा था, "भारत के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध भाग्यवशात् हुआ है।"

स्वर्गीय एंड्रूज़ की इस निस्पृह सेवा के पीछे कौन सी भावना काम कर रही थी? यदि वे धर्माध्यक्ष होते तो उनके लिए बहुत बड़ी सम्भावनायें थीं किन्तु धर्म तो साम्राज्यवादियों के हाथों की कठपुतली बन गया था। अपनी सेवा द्वारा स्वर्गीय एंड्रूज़ ब्रिटेन की—'फूट फैलाओ

और हुकूमत करो' वाली नीति का प्रायश्चित्त कर रहे थे। वे उस नीति का प्रायश्चित्त कर रहे थे कि जिसके द्वारा लिवरपूल की सड़कों को भारतीय-चाँदी से अंग्रेज़ पाट रहा था। किन्तु जो चीज़ उनको दुःख दे रही थी वह उपनिवेशों के अन्दर ब्रिटेन की रङ्ग-भेद की नीति थी।

वे एक अंग्रेज थे कि जिनके रक्त में राजा के प्रति वफ़ादारी भरी हुई थी। आत्मचेतना, विश्वास और व्यवहार में ईसा को पहली जगह देना उनके लिए इतना आसान न था और कौन कह सकता है कि एक लम्बे अर्से तक दीनबन्धु एंड्रूज़ को प्रभु ईसा के इन वाक्यों ने चिन्ता में नहीं डाल रखा था—"जो कुछ ईश्वर का है उसे ईश्वर को दो और जो कुछ बादशाह का है बादशाह को दो।" किन्तु अन्त में धर्म-ग्रंथ के शब्दों के ऊपर सत्य की भावना ने विजय पाई।

भारत और ब्रिटेन के परस्पर व्यवहार में गांधी जी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दीनबन्धु एंड्रूज़ के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। गांधी जी ने तो उनके ऊपर इस दृष्टि से प्रभाव डाला कि सचाई के निमित्त अपने आप को बलिदान कर देना चाहिए और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उन्हें यह शिक्षा दी कि जिस दर्जे तक विश्वात्मा के साथ जीवात्मा का मेल बैठेगा उसी दर्जे तक मानव-जीवन शुद्ध और खरा उतरेगा। और चूँकि विश्वात्मा के साथ जीवात्मा के मेल का यह काम हमें पतितों और दलितों के जीवन में धनिकों के जीवन से अत्यधिक दिखाई देता है इसीलिए एंड्रूज़ ग़रीब और दलितों की सेवा प्रेम और भक्तिभावना से करते थे।

यदि एंड्रूज आज जीवित होते तो गुलामी से हमारे छुटकारे को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न होते। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने भारतीय जनता के विविध समूहों के बीच एकता के प्रचार का भी हमें उपदेश दिया होता। उन्होंने हमें बताया होता कि विद्यार्थी और मजदूर अपने को गिरोहबन्दी की राजनीति और Power Politics के ज़हर से बचाये रखें क्योंकि यही दो वर्ग हैं कि जो राष्ट्र और समाज की रीढ़ हैं।

श्री अरविन्द !

धरातीत लोक की नक्षत्र-खचित छत पर खड़े होकर तुमने धरती की सन्तानों को देखा, जो नीचे की छायान्ध धूमिल उपत्यका में आहत, अवनत, अवसन्न भाव से भवचक्र में पिसी जा रही थी। तुम्हारा हृदय, हे करुणाघन, विश्वव्यापी व्यथा से छलक उठा। किन्तु तुम्हारी अनुकम्पा में आग थी—आग, जो आकाश के तारों से आत्म-ज्योति के रहस्य को बरबस छीन ले आती है—यूनान के प्रोमेथियस की तरह ! सृष्टि के आविर्भावकाल से चले आनेवाले इस गुह्य रहस्य को अवगुंठनहीन करने के लिये तुमने अपनी ज्योतिष्मती प्रज्ञा की सारी शक्ति और अपने अनासक्त प्रयत्न का सारा आनन्द उड़ेल कर दिया।

अकस्मात् एक दिन पौ फटी और आत्मोपलब्धि की सुरभित मकरन्द-सुधा को आकण्ठ पीकर तुमने अपने ध्यानमग्न एकान्त-सौध से जगत् को पुकारा—"यह लो ! तुम आधुनिकों के लिये मैंने प्राचीनों के इसी सत्य को फिर खोज निकाला कि आत्मा के आलोक का रहस्य भगवान के अवतरण और मानव के आरोहण की सम्मिलित-क्रिया में ही छुपा हुआ है।"

और तुम्हारे मेघमन्द्र कंठ-स्वर को सुनकर धरा के पुत्रों ने फिर एक बार याद किया कि उनके जीवन की सार्थकता दिवि के पुत्र बनने में है, और अपने अन्तरतम में उन्होंने एक बार फिर अभीप्सा की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित किया !

नये युग का सन्देशवाहक

युग युगान्तर के बाद तरक्की करते करते इनसान अन्त में एक न एक दिन जिस कमाल को, जिस पूर्णता को पहुँचने वाला है, उसकी झलक हमें कुछ खास-खास महापुरुषों की जिन्दगी से मिलती है। उन्हीं महापुरुषों की जिन्दगी से हमें उस कमाल तक कभी न कभी पहुँचने की आशा बँधती है। इस तरह के महापुरुष हर युग में किसी न किसी देश में पैदा होते रहे हैं। ये महापुरुष अपने छोटे से दायरे के अन्दर उस 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' परम पिता परमात्मा के सौन्दर्य और उसकी दया के एक छोटे से नमूने होते हैं।

इसी तरह का एक महापुरुष जो हर तरह पैगम्बर या ईश्वरीय सन्देश-वाहक कहलाने का हक़दार था; ठीक सौ साल हुए २३ मई सन् १८४४ को ईरान में पैदा हुआ था। उसका नाम अब्दुल बहा था। तेहरान में बहाउल्ला के प्रतिष्ठित घराने में उसका जन्म हुआ। ठीक उसी घड़ी उसका जन्म हुआ जिस घड़ी कि बहाउल्ला ने जिसे 'बाब' भी कहते थे, अपने ईश्वरीय सन्देश का सबसे पहले संसार के सामने ऐलान किया।

बहाउल्ला का यह सन्देश क्या था? यह सन्देश दुनिया के सामने पूरी दीनता और हृदय की शुद्धता के साथ यह ऐलान करना था कि "कोई महान शक्ति जो अभी तक नूर के पर्दे के पीछे छुपी हुई है, जिसमें अनन्त और असंख्य कमाल मौजूद हैं, मेरे (बाब के) द्वारा अपनी दया का स्रोत बहा रही है। उसी की मरजी पर मैं चल रहा हूँ और उसी के प्रेमपाश से मैं चिपटा हुआ हूँ।"

जो काम हज़रत ईसा के लिये 'जॉन दी बैप्टिस्ट' ने किया वही, बहाउल्ला के लिए अब्दुल बहा ने किया। बहाउल्ला ने बहाई धर्म को क़ायम किया और अब्दुल बहा ने इस धर्म के सन्देश को दूर-दूर तक फैलाया।

एक बार किसी ने अब्दुल बहा से पूछा—"बहाई कौन है?" उसने जवाब दिया—"जो आदमी सारी दुनिया के साथ प्रेम करता है, जो

मनुष्य जाति के साथ प्रेम करता है और मनुष्य जाति की सेवा करने की कोशिश करता है, जो सबको सुख शान्ति पहुँचाने और सब में भाईचारा पैदा करने के लिए प्रयत्न करता है, वही बड़ाई है।"

लेकिन आदमी अपने अन्दर इस विश्वव्यापी प्रेम को पैदा करने की कोशिश कैसे करे? सत्य की खोज में लगे रह कर। इसी से धीरे-धीरे, किन्तु एक न एक दिन निस्सन्देह मनुष्य ईश्वर को जान सकता है। और चूँकि ईश्वर अलग-अलग देशों, और अलग-अलग कल्पनाओं से ऊपर है, इसलिए जाहिर है कि सत्य का खोजी भी एक न एक दिन इस सच्चाई तक पहुँच जायेगा कि—"बड़प्पन उस आदमी का नहीं है जो केवल अपने देश या अपनी कौम को प्यार करता है, बल्कि बड़प्पन उसका है जो सारी मनुष्य जाति से प्रेम करता है।" यही बहाउल्ला का कहना था। इसके लिए आदमी को "ईश्वर के साथ सदा बातचीत में लगे रहना" होगा, या कम से कम इसकी कोशिश करनी होगी। यही ईश्वर-प्रार्थना का मतलब है। इसलिए प्रेम ही आत्मा की भाषा है। प्रेम जात-पात, धर्म-मजहब, नसल और रंग सब भेद भावों से ऊपर है।

अब्दुल बहा का उपदेश था कि आदमी इन सब भावों और विचारों के बन्धनों से अपने को आजाद कर ले, जो आम तौर पर मनुष्य को एक छोटे से दायरे के अन्दर कैद किये रहते हैं। मनुष्य हर क्षण अपने को संसार का नागरिक समझे और इस हैसियत से सब का भला करने में लगा रहे। इसलिए उसने हर व्यक्ति को आदेश दिया कि वह दूसरों पर सदा दया करता रहे, उनके दुःख को अपना दुःख समझे, और अपनी जिन्दगी को सदा सादे से सादा रखे। फ़ज़ूलखर्ची किसी भी आदमी के लिए एक असह्य पाप है। सब मज़हबों के लोगों के साथ खुश होकर और दिल खोलकर मिलना सबका फ़र्ज़ है। आर्थिक लाग-डाट यानी एक दूसरे से अधिक धनवान होने की लालसा और साम्प्रदायिकता ये दोनों शाप हैं, जो एक दूसरे के साथ-साथ पैदा होते हैं। ये दोनों इसी तरह दुनिया से मिट सकते हैं।

जो बात किसी एक शख्स के बारे में कही जा सकती है वही दुनिया के बारे में कही जा सकती है। इसीलिए अब्दुल बहा ने सच्ची और सार्वाङ्गिक सभ्यता के लिए कुछ बुनियादी उसूल कायम किये हैं। वे ये हैं—

अ किसी एक लक्ष्य पर या किसी एक धर्म पर सबका मिल जाना।

आ सब के साथ न्याय का बर्ताव।

इ सब देशों और क़ौमों के बीच परस्पर ऐक्य।

ई सब जगह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा हुकूमत।

उ किसी भी पद के लिए या किसी को तरक्की देने के लिए अपने दल या पक्ष से ऊपर उठकर केवल योग्यता का देखा जाना।

ऊ हर शहर या हर गाँव का आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर होना।

ए हर शख्स का अपनी सम्पत्ति में दूसरों को हिस्सेदार समझना और हिस्सा देना।

ऐ सबको काम या रोज़गार मिलना।

ओ सबको तालीम दिया जाना।

औ सामाजिक कामों के लिए या उद्योगधन्धों में कोई किसी का गुलाम न हो।

अं हिंसा से यानी दूसरों को ईज़ा पहुँचाने से सबका बचना। और

अः पुरुषों और स्त्रियों में बराबरी।

पूरब और पच्छिम दोनों इसी तरह एक दूसरे के नज़दीक आ सकते हैं और दोनों एक भाईचारे में बँध सकते हैं। सब क़ौमों के लोगों को रात दिन इस आदर्श तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए। सारी मनुष्य जाति को सुख पहुँचाने और उनके दुखों को दूर करने का यही तरीका है। यही हमारे लिए स्वर्ग का रास्ता है। बहाउल्ला ने कहा है कि—"सच्चे ईश्वरी राज्य में जिस समय सारी मनुष्य जाति एकता के खेमे के नीचे जमा हो जाएगी, उसी समय इस पृथ्वी पर हमें जन्नत दिखाई देने लगेगी। यही जन्नत होगी।"

डॉक्टर या डाकू ?

कहते हैं, एक बार एक डॉक्टर ने अपने एक बीमार को उसकी बहुत दिनों की बीमारी से मुक्त कर दिया। इससे बीमार का दिल शुक्र-गुज़ारी से भर गया। कई दिनों के बाद एक दिन हठात् बीमार की उस डॉक्टर से भेंट हो गई। स्वाभाविक ही था कि डॉक्टर साहब उससे पूछते—"कहिए जनाब, आजकल आपके मिजाज कैसे रहते हैं ?"

बीमार ने जवाब दिया—"सब खैरियत है। आपकी मेहरबानी से आजकल मैं अच्छी तरह से चल-फिर सकता हूँ। मगर, डॉक्टर साहब, एक बात मैं आपसे कहना तो भूल ही गया, वह यह कि इसके पेश्तर कि मैं चलने-फिरने लायक हो सकूँ, मुझे अपने घर का सामान आदि सब-कुछ बेचना पड़ा !"

"वह कैसे, भाई ?"—डॉक्टर ने ज़रा आश्चर्य से पूछा।

बीमार ने उत्तर दिया—"नहीं तो मैं आपका बिल कैसे अदा कर सकता था ?"

उपर्युक्त कहानी में अतिशयोक्ति रत्ती-भर भी नहीं है, यद्यपि यह पूरे सोलह आना सच है, यह मैं नहीं कह सकता। मगर एक ही उदाहरण से, जो रोजमर्रा की हालत को प्रतिबिम्बित करता है, इसकी वास्तविकता का प्रमाण मिल जायगा। थोड़े ही दिन हुए मेरे एक मित्र का, जो मेरी तरह मध्यम वर्ग के हैं, आपरेशन हुआ। एक बरस पहले से उनका इलाज हो रहा था, मगर जब उनकी व्याधि की तीव्रता में कुछ भी कमी न दिखाई दी, तो घर वालों को मजबूरन आपरेशन का निर्णय स्वीकार करना पड़ा। आपरेशन डाक्टर के एक खानगी अस्पताल में हुआ। मेरे मित्र को अस्पताल, जहाँ वे दस दिन रहे, छोड़ने पर डॉक्टर का १३५०) का बिल चुकाना पड़ा !

मेरे मित्र का माहवारी वेतन केवल दो सौ रुपया है। घर में तीन जने रहते हैं। बड़ी मुश्किल से घर का ख़र्च पूरा होता है। इतना ही नहीं, बल्कि कर्ज भी है, जो चढ़ गया है। मेरे मित्र बड़ी ही सादगी से रहते हैं, किसी व्यसन के आदी नहीं हैं। वे १२ × ८ की साइज के एक छोटे-से कमरे में, जो बम्बई-उपनगर में है, रहते हैं, जिसका किराया ४०) महीना है। मगर इस कमरे को पाने के लिए भी उन्हें एक हजार रुपया 'पगड़ी' देनी पड़ी, जिससे मजबूरन वे कर्जदार बन गए। १५ बरस की नौकरी में उनके पास कुछ सामान और उनकी स्त्री के पास थोड़े-से जेवर इकट्ठे हो गए थे, अब इन सबको बेचकर मेरे मित्र ने डॉक्टर साहब का बिल चुकाया।

मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ। क्या डॉक्टरों की इस डाकाजनी से बचने का कोई रास्ता नहीं? क्या सरकार डॉक्टरों को मजबूर नहीं कर सकती कि वे अपनी फीस और दूसरे खर्च इतने ज्यादा न रखें? क्या एक बीमार का लहू चूसकर और उसकी चमड़ी तक उधेड़कर रुपया कमाना इन्सानियत है?

डॉक्टरों की एक और किस्म की भी डाकाजनी है, उसका भी यहाँ जिक्र कर दूं। मैं कई डॉक्टरों को जानता हूँ—हाँ, वे शहरों में रहते हैं—जिनकी माहवारी आमदनी कई हजार रुपए है, मगर वे सरकार को एक पाई भी इन्कम-टैक्स नहीं देते। हाँ, खुद अपने पर और अपने कुटुम्ब-वालों पर खूब खर्चते हैं, क्लबों और सिनेमा-नाटकों में पानी की तरह रुपया बहाते हैं। मगर जब कोई बीमार हाथ जोड़कर अर्ज़ करता है कि फीस में कुछ कमी की जाय, तो उसे झुड़ककर जवाब देते हैं! सिर्फ इतना ही नहीं, ऐसे भी डाक्टर मौजूद हैं, जो ऑपरेशन जब आधा हो चुकता है, तो उसी वक्त बीमार के रिश्तेदारों से अपनी पूरी फीस मेज पर नकद रखवा लेते हैं, फिर ऑपरेशन पूरा करते हैं! एलोपैथ डाक्टरों का यह तरीका देखकर अब हमारे वैद्य और होमियोपैथ भी अपनी फीस दिनों-दिन बढ़ाने लग गये हैं। कुदरती इलाज भी कुछ सस्ता नहीं, बल्कि

महँगा ही है। एक दफा गांधी जी ने एक कुदरती इलाज के केन्द्र के खर्च के बारे में सुनकर कहा था—"यह कुदरती इलाज का केन्द्र या तो बहुत पैसेवालों के लिए उपयोगी हो सकता है या जो कुदरती इलाज पर लट्टू हैं। गरीब लोग तो ऐसे केन्द्र से हजारों कोस दूर भाग जायँगे।"

क्या हमारे दिल्ली के देवता—और विशेषतया स्वास्थ्य-मंत्रिणीजी—डॉक्टरों की इस डाकाजनी की तरफ कुछ ध्यान देंगे? यह प्रश्न उनसे राजघाट की बापू की समाधि पूछती है।

गांधी जी

'असत् का अन्धकार जब-जब विश्व को चारों ओर से घेर लेता है, तब-तब सत्य की प्रकाश-रेखा के समान मैं उसे चीरता हुआ बाहर होता हूँ'—इतिहास की यह वाणी, जो भगवान् की वाणी है, मानवीय विकास के अन्तराल से बार-बार गूँज उठी है। गांधी जी इसी आलोक-रेखा के एक अंश हैं। जो दुनिया भ्रम की अँधियारी में कंठ तक डूबी हुई है, मद और अहंकार से जिसका जन्म है, जिसे बृहदाकार यन्त्र और विपुलाकार देह का गर्व है, उसी के बीच गांधी जी उज्ज्वल नक्षत्र की तरह हमें संकेत कर रहे हैं—निर्देश कर रहे हैं—कि सत्य और प्रेम के आलोक-पथ से हम कहाँ तक दूर जा पड़े हैं ?

कितने ही युग बीते, जिस दिन योद्धा की तरह पृथ्वी की कठिन बाधाओं को चीर कर एक छोटा-सा सुकुमार अंकुर प्राणों की विजय घोषित करने निकला, अणु-परमाणुओं के ब्रह्मांड ने उस दिन इस विजय का स्वागत किया। हमारे गांधी जी जब अपनी सुदूरवर्तिनी दृष्टि के शिखर से हमारे बीच आ खड़े हुए, तब हम धरती के जीवों ने भी ऊपर की ओर ताककर देखा ; आत्मा के नवजन्म और नवचैतन्य का अनुभव किया।

'वैराग्य की साधना में मेरी मुक्ति नहीं है'—गांधी जी ने उत्तर दिया जब हमने उनसे पूछा कि हिमशुभ्र स्वच्छ परिवेश को छोड़ वे क्यों कर अपने यात्री के वस्त्रों में हमारी धूलिधूसरित गलियों की मलिनता लगाने आ गये ? उन्होंने और भी कहा : 'मेरे प्रभु वहीं छिपे हैं, जहाँ किसान मिट्टी तोड़ रहा है और मजदूर गिट्टी फोड़ रहा है। उसके वस्त्र अंग की धूल से मैले हैं। स्वामी की सेवा में मुझे भी उस सुन्दर कालिमा की छाप धारण करनी होगी ; तभी न उसके योग्य हो सकूँगा ?' और एक साथ ही उन्होंने हल को थामा, चरखे को घुमाया, झाड़ू को सँभाला। दैवी

श्रमिक पर अपनी स्थिर दृष्टि जमा कर वे दिन पर दिन अक्लान्त श्रम करते रहे, अपने को मिटाते रहे। उनका स्वच्छ कौपीन इसी से हमारे दागों से भर उठा। किन्तु तारों की तरह इन चिह्नों में एक प्रकाश था, जिसके सहारे कोटि-कोटि नर-नारी जीवन की राह पर चल निकले।

इसीलिए हम आज गांधी जी को जहाँ पाते हैं, वह जगह है—किसान का खेत, जहाँ उसकी मेहनत भूखे को दो दाने अन्न जुटा रही है, जहाँ जुलाहा अपनी लज्जा ढँकने के लिए दो-हाथ कपड़ा बुन रहा है, जहाँ लांछित ने दुर्दान्त शक्तिशाली के विरुद्ध निर्भय माथा उठाया है, जहाँ तीर्थ-पथ का यात्री सत्य के शिखर की ओर पाँव-पाँव चुपचाप बढ़ता आ रहा है और जहाँ नारी अपने पुण्य की शक्ति को लेकर पुरुष की छाती में न्याय के लिए अकेले लड़ाई करने को अनुप्राणित कर रही है। और कहानी के उस अमर पंछी की तरह जो अपनी चिता की भस्म में से फिर जाग उठता था, कोटि-कोटि मानवों के अन्तर में वे बार-बार जीवन्त भाव से जाग उठे हैं। दीर्घायु हों हमारे गांधी जी!

बापू के चरणों में

बहुत पहले मैंने अपने एक ईसाई मित्र से एक भजन की कुछ पंक्तियाँ सुनी थीं। जब कभी भगवान् बुद्ध या हज़रत ईसा सरीखे मानवता के पुजारी की वर्षगाँठ मनायी जाती है, तो वे अक्सर मेरे दिमाग में घूम जाती हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ईसा यदि हज़ार बार भी,
पैदा हों बेथलहम में—
पर आत्मा अनाथ तेरी,
यदि रमे न वे तेरे मन में।

मैं जब गांधी जी की आगामी वर्षगाँठ पर सोचता हूँ, तो मेरा मन मुझसे पूछता है, "क्या गांधी जी तुम्हारे मन में आ बसे हैं ? आज बीस साल से तुम गांधी-जयन्ती मनाते आ रहे हो। क्या इससे तुम्हारे आचरण या गुणों में रत्ती भर भी फ़रक़ पड़ा है ?" और तब फिर लज्जा से मेरा सिर झुक जाता है।

गांधी जी को प्यार करने या उनमें जीवित रहने का मतलब है अपने आप को सत्य की खोज में खपा देना। क्या मैंने ऐसा किया है ? इसके लिए क्या मैंने कभी निश्चय किया है कि मार्ग में जो भी बाधाएँ आएँ मैं ईश्वर और मनुष्य मात्र के प्रति अपने व्यवहार में कठोर सदाचार का पालन करूँगा ? मुझे अफसोस है कि मैं अभी ऐसा नहीं हो पाया हूँ। इसके विपरीत मैं वहीं खड़ा हूँ जहाँ समझौता और अर्ध सत्य अपना डेरा डाले हुए हैं।

गांधी जी से स्नेह करने का मतलब है अपने मन और आत्मा में यह दृढ़ विश्वास जमा लेना कि आत्मा एक है और अविभाज्य है। फिर ऐसा विश्वास रखते हुए आत्मा के सम्पूर्ण अंगों को, बिना उनके अधिकारों

का किसी तरह विवेचन किए, प्रेम से आदर करना चाहिए; क्योंकि गांधी जी अपने अधिकार की अपेक्षा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। जहाँ तक मानव प्रेम का सम्बन्ध है, इसका फल यह होता है कि ऊँच-नीच, धनी-ग़रीब, विद्वान-मूर्ख और काले-गोरे की भावना दूर भगा दी जाती है। परन्तु मैं क्या हूँ ? अब भी तो मेरा मन जात-पाँत, श्रेणी या रंग की संकीर्ण भावना से आक्रान्त है !

गांधी जी में श्रद्धा रखने का अर्थ है, अटल ईश्वर-भक्ति और पद-दलित, अनाथ, अशक्त तथा दुखियों की निष्काम सेवा। क्या मुझमें बापू की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दैनिक और आत्मिक पवित्रता का रंचमात्र (कण भर) भी असर है ?

गांधी जी के सन्निकट होने का मतलब है अधिकार की भी भावनाओं से अलग होना। अपने प्रत्येक स्वाँस के तार-तार को इस सत्य से—'हे चिरन्तन ! तुम्हारा ही सब कुछ है, मेरा कुछ भी नहीं—' झंकृत करते रहना चाहिए। मेरा प्रत्येक कार्य मेरी तुच्छता और मेरी हैसियत का दुनिया के सामने इज़हार करता रहता है।

अन्त में गांधी जी में एकात्म होने का अर्थ है ईश्वर की निरन्तर सृष्टि में उतर पड़ना, जिससे तुम्हें प्रत्येक प्राणी में उसकी पूर्णता प्रतीत हो।

संक्षेप में अब स्वीकार करना पड़ता है कि रस्म-रिवाज की रूढ़ि के कारण ही प्रत्येक वर्ष मैं गांधी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ; परन्तु वास्तव में यह गांधी जी के सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ संकल्प की श्रद्धांजलि नहीं होती।

फिर भी मेरा अन्तरतम अनन्त प्रेम और असीम श्रद्धा से बापू की चरण-रज को अविरत चूमता रहता है। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी आत्मा गांधी जी की आत्मा का अभिनन्दन कर रही है। बस फ़र्क़ यही रहता है कि उनका ब्रह्म जाग्रत् है और मेरा सुप्त।

अपने इस आत्म-विवेचन में मैंने गांधी जी की प्रतिभा और

महानता की कुंजी पा ली है। प्याज के छिलके की तरह आत्माभिमान को निरन्तर अलग करते रहने ही से ब्रह्म का पूरा ज्ञान हो सकता है। पर दुख है जिस स्वार्थ ने मेरी चिर-जाग्रत् चिर-सजग और चिर-सेवावनत आत्मा को ढँक लिया, उसी से मैं चिपटा हुआ हूँ!

बापू के कदमों पर चलना एक महान वरदान है। यह वरदान आजीवन सत्य, प्रेम, न्याय, सादगी, समता और स्वतन्त्रता की साधना करने से ही मिल सकता है। क्या हम लोग इसके लिए तैयार हैं? यदि हाँ, तो मैं कहूँगा कि बापू का जीवन व्यर्थ नहीं है। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं कि इतिहास के उस काल में पैदा हुए, जब मनुष्य के रूप में ईश्वर चल रहा है और हमारे बीच काम कर रहा है।

गांधी जी के साथ एक प्रातःकाल

२२ नवम्बर १९४५। 'मलाबार हिल'—जहाँ बंबई की संभ्रान्त जनता अपना नीड़ बाँधे है; देश के एक प्रसिद्ध धन-कुबेर के राजप्रासाद का एक प्रशस्त कमरा; सूर्य अभी प्राची से निकला नहीं है, लेकिन किसी भी क्षण तपाये हुए सोने की दीप्ति निखराते हुए निकल सकता है। धीमी और ओस से धुली हुई हलकी हवा उस तरफ अपना भीना आँचल पसारे हुए है; बाग़ में उसका ऐश्वर्य और भी स्पष्ट है। तकिये पर सिर को सहारा दिये बापू चारपाई पर लेटे हुए हैं और उनके पाँव ऊपर को लगभग समकोण बनाते हुए बिस्तर पर रखे हैं। उनकी दाहिनी ओर अधेड़ अवस्था के एक धनी सज्जन—सिर से पैर तक सफ़ेद खादीपोश (वैसे सिर पर एक काली टोपी जरूर विद्यमान थी)—बैठे हैं और बाईं ओर दो महिलाएँ हैं जिनमें एक तो पचास के उस तरफ़ हैं, दूसरी इस तरफ़। वे दोनों हिन्दी-उर्दू के समन्वय और सहयोग के सम्बन्ध में किये हुए अपने काम-काज की चर्चा कर रही हैं। देश की राष्ट्रभाषा के उद्भव और विकास के क्षेत्र में उनके कार्यों या भविष्य के मन्सूबों की गांधी जी कभी-भी जाँच कर बैठते हैं, अर्थात् अचानक ऐसा सवाल कर बैठते हैं जिससे वे चकित हो जाती हैं और महसूस करती हैं कि उनसे बातचीत करते समय सचाई और सावधानी दोनों की बड़ी जरूरत हुआ करती है।

गांधी जी के मेज़बान की धर्मपत्नी का प्रवेश। यद्यपि उनके पति अशेष धन-दौलत के स्वामी हैं, तथापि वे हाथ का कता-बुना ही पहनती हैं। हाथों में बकरी के दूध का भरा गिलास और छीले हुए संतरे की फाँकों से भरी एक तश्तरी सँभाले हुए वे आईं। गांधी जी नाश्ते के लिये उठ बैठे। इसी समय भारतीय राजनीतिज्ञों के बीच सिंह के समान सरदार पटेल कमरे में आये। उनके साथ उनकी कन्या भी थीं जो उनकी

'प्राइवेट सेक्रेटरी' थीं। भाषा के प्रश्न में संलग्न गांधी जी को देख कर सरदार बोल उठे "आप इस उम्र में यह नई जिम्मेदारी क्यों मोल ले रहे हैं, जब कि आपसे कहीं कम उम्र के कार्यकर्त्ता इससे कहीं पहले अपनी छोटी-मोटी 'ड्यूटियों' से छुट्टी पाना चाहते हैं ?" सरदार की बातचीत का पैनापन मशहूर है। तीक्ष्णता के साथ चमक भी होती है; सरदार की पैनी बात भी मुस्कराहट की झलक लिये हुए थी। "यह तो—पेट में दर्द न भी हो तो—बैठे-ठाले ठोकपीट कर दर्द पैदा करना है। भला सोचिये तो, यह क्या उचित है ?"

"ओ हो" गांधी जी ने खुश हो कर अपनी उस सुन्दर हँसी के साथ जवाब दिया जो तूफान और गुस्से को देखते-देखते शांत कर दिया करती है, "मैं तो 'महात्मा' के नाम से मशहूर हूँ न ?—इसीलिये सब तरह के चमत्कार दिखाने का मुझे तो अधिकार है।"

सरदार की 'कन्या—सेक्रेटरी' बोली, "अच्छा, मान भी लिया, तो मेरा यह आग्रह है कि यदि आपको अपने इस ट्रस्ट के बारे में अखबारों में कोई वक्तव्य देना भी हो तो वह बिल्कुल छोटा होना चाहिए; मिसाल के तौर पर चार लाइन से काम चल जाये, अभी की तरह लम्बा वह न हो।"

गांधी जी तो पाई-पाई और शब्द-शब्द की कंजूसी में उस्ताद हैं। बोले—"क्या वह सचमुच बहुत लम्बा हो गया है ? तब एक काम करो। तुम उसे छोटा करके चार लाइनों का बना दो, मैं आँख मूँद कर सही कर दूंगा।"

इसका कोई उत्तर नहीं आया। गांधी जी ने मुस्कराते हुए कहा—"जानकारों का कहना है कि आलोचना करने वाले को यह याद रखना चाहिये कि अगर एक तरफ किसी बात की आलोचना करे, तो दूसरी तरफ उसकी जगह कोई रचनात्मक प्रस्ताव भी सामने लाये।"

हम सब चुप रहे। गांधी जी कहते चले—"एक चित्रकार था। उसके चित्र बड़े सुन्दर होते थे लेकिन जनता उसके काम की अक्सर कड़ी

आलोचना ही किया करती थी। सो एक दिन उसने एक सुन्दर चित्र स्टूडियो के बाहर टाँग दिया और आने जाने वालों को उसके कलात्मक दोष दिखलाने के लिये पुकारा। बस, फिर क्या था लोग तो इस जाल में फौरन ही फँस गये। किसी ने चित्र में जरा-सा भी गुण नहीं देखा —यद्यपि कला के पारखियों ने उस चित्र की आगे चलकर बेहद प्रशंसा की।"

गांधी जी का स्वल्प जलपान तब तक समाप्त हो चुका था और अब वे बाहर बाग में टहलने जाने के लिए निकले। जैसे ही वे खड़े हुए और उनकी "कंज्ञो" चप्पलें सामने सरका दी गईं कि सरदार पटेल ने कमरे के कोने में खड़ी हुई एक पूरे आकार की गांधी जी की शबीह (माला) की तरफ इशारा किया जिसके सामने हलका पर्दा पड़ा हुआ था और जिसे किसी चित्रकार-बहिन ने बनाया था, "बापू, अगर आपको अपनी ही छवि देखने के लिये दर्पण की जरूरत थी तो वह बहुत आसानी से मिल सकता था, तब फिर भला यह क्यों?"

"लेकिन मैं अपना चेहरा दर्पण में देखना तो नहीं चाहता; इसलिए तो चित्र पर परदा पड़ा हुआ है।" बापू ने तत्परता से जवाब दिया। और इस बात ने कमरे को उजली हँसी से आलोकित कर दिया। अपनी छोटी हस्तियों के द्वारा हम लोग जिस तरह वातावरण को संकीर्ण किए हुए थे उसमें सहज ही एक प्रसन्न प्रशस्तता आ गई।

थोड़ी ही दूर पर गांधी जी ने अपने दोनों नातियों के साथ मुझे खड़े देखकर पूछा "ये बच्चे अपनी चित्रकला के अभ्यास में कैसी क्या प्रगति कर रहे हैं?"

मैंने संभ्रमपूर्वक जवाब दिया—"वे तो अभी अपनी साधना में ही लगे हैं।"

"साधना?"—सत्य के पुजारी बापू का तपस्वी मन स्नेह और गांभीर्य से भर आया—"तब तुम कदाचित् इस शब्द के गहरे अर्थ की तरफ ध्यान नहीं दे रहे। मैं तुम्हें कहूँ कि 'साधना' दुर्गम पहाड़ की चढ़ाई

की तरह कठिन वस्तु है। मेरे इम्तहान को पास करना कुछ बहुत आसान नहीं है।"

गांधी जी प्रातःभ्रमण के समय दिन की और घड़ियों की अपेक्षा कुछ अवकाश में रहते हैं। इसी भरोसे सिंध और पञ्जाब की कुछ लड़कियाँ उनके दर्शन के लिए चली आईं। लेकिन कहीं उनके स्वाभाविक कार्यक्रम या चिन्ता-धारा में बाधा न पड़े, इस डर से वे कुछ फासले पर ही खड़ी रह गईं।

"ओ हो, क्या हरिजन फंड के लिए कुछ रुपये देने आई हो?"—गांधी जी ने उन्हें अभिवादन करते देखकर शरारत से कहा।

यह तो बड़ी परेशानी हुई। कहाँ सीधी-सादी नमाज़ और कहाँ यह रोज़े की झंझट। बेचारी लड़कियों ने अपने अपने बैग टटोलने शुरू किये। मैंने चुपके-चुपके बापू से कहा—"हिन्दुस्तान की सरकार भी अपने टैक्स की वसूली में कुछ लोगों को मौकूफ़ (मुक्त) कर दिया करती है, लेकिन आप अपने कर की उगाही में जरा भी रिआयत नहीं करते।"

"क्यों करूँ—ख़ासकर उनके प्रति जो सिन्ध से आये हैं?" बापू ने कहा।

मैंने अंग्रेजी में कहा—"क्यों नहीं—सिर्फ इसीलिए कि 'दे हैव सिण्ड' [उन्होंने सिन्धवासी होने का पाप किया है] ?"

गांधी जी खिलखिलाकर हँस पड़े; उनकी हँसी नीले आकाश की तरह उन्मुक्त थी। तब सूरज काफी निकल आया था। गांधी जी ने तब धीरे से कहा—"तो अब अपने-अपने काम पर!" और फिर वे अपने कमरे में लौट आये तथा फ़ौरन कामकाज के डेस्क पर झुक पड़े। हम लोग भी अपने रोज़मर्रा की बँधी-सधी दिनचर्या—साधारण आदमी के इस परम पवित्र धर्म-कार्य को सम्पन्न करने में लग गये।

गांधी जी की एक झलक

नदी के तीर, बाँस की बनी एक झोपड़ी में, अपने ही सरल देश के सरलतर उपकरणों से सरलतम देशवासी के हाथों बनाई हुई कपास की 'गादी' पर, मिट्टी की दीवार से टिका हुआ संन्यासी जैसा कोई व्यक्ति बैठा हुआ था। उसका विशाल मस्तक आकाश के गुम्बज-जैसा दीख रहा था। उसके नेत्रों की राह अंतर की गम्भीर चिंता बीच-बीच में चश्मे को भेद कर बाहर झलक उठती थी। उसका मुख, मुख नहीं, मानो ज्योतिष्क हो। जान पड़ता था मानो वह पवित्रता तथा अथक परिश्रम के जीवन का जीवंत अवतार हो। इस समय वह स्पष्टतया मनुष्यों की दुनिया का कोई बहुत पेचीदा मसला सुलझाने में डूबा हुआ था। चारों ओर नदी तीरवर्ती बालुका-राशि भी विस्तृत थी, शांति भी, जो अस्तगामी सूर्य के सुनहले प्रकाश में चमक रही थी।

साँप! साँप!!—कोई व्यक्ति उत्तेजित स्वर में पुकार उठा और पल भर में ही भीतर आकर कुटिया की आत्मा के निकट खड़ा हो गया।

सरीसृप की छन्दोमय देह को आगन्तुक के हाथ में झूलते हुए देख कर भगवान् तथागत की प्रशांत मुद्रा और सीमाहीन करुणा की याद दिलाने वाले धीर कंठ से प्रश्न आया—क्या ज़हरीला है?

हो सकता है; किन्तु मैं ठीक नहीं कह सकता!—आगन्तुक ने उत्तर दिया।

तब उसे जाने दो, आदेश आया। दुनिया इतनी काफ़ी बड़ी है कि उसे भी तनिक-सा अवकाश खेलने-खाने और प्रेम करने के लिए मिल जाएगा।

साँप की दोनों आँखें तारिकाओं की भाँति चमक उठीं। बन्धनमुक्त होते ही वह अपने जेलर के हाथों से मुक्ति पाकर अपरिसीम विश्व में

विलीन हो गया। किन्तु जाने से पूर्व उसने कुटिया के प्राणों के चरणों पर अपनी दुहरी जीभ एक बार स्नेहपूर्वक फेर ली। ठीक भी था; उन्हीं की अनुकम्पा ने, जो जीव मात्र पर श्रावण-घन की तरह निरपेक्ष बरसा करती है, क्या उसे नवीन मुक्ति और नवीन प्राणों का वरदान नहीं दिया था ?

अहिंसा का अर्थ क्या है ? अर्थ है सृष्टिकर्त्ता की निखिल सृष्टि पर छा जानेवाली काली मृत्यु को प्रेम के पुनीत जल से शुद्ध कर लेना—जीवन और प्राणों का जहाँ तक साम्राज्य है वहाँ तक अपने मानवीय प्रेम का साम्राज्य प्रसारित करना, समाज का आध्यात्मीकरण ! अहिंसा का मर्म निहित है—साक्षात् शंकर की मंगलमयी मूर्ति में !

गांधी जी की एक और झाँकी

हर वर्ग और हर धर्म के लोगों की भीड़ एक पब्लिक हॉल में ठसाठस भरी हुई थी। सन्ध्या का समय था। गोधूलि बेला थी, जब खेतों से चर कर गाय अपने-अपने थानों को लौट रही थीं। उनके पैरों से ठोकर खाकर धूल बादल बन कर उड़ रही थी और दिन भर की थकी-माँदी दुनिया को अपनी पवित्रत से ढक रही थी। हॉल में उपस्थित जनता उत्सुक हृदय उस दिन के मेहमान की बात सुनने की प्रतीक्षा में थी। मेज़बान ने सारे शहर की तरफ़ से मेहमान का स्वागत करते हुए परिचय दिया था कि मेहमान एक ऐसे गुरु हैं जिन्होंने अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार किया है, वे एक बहादुर योद्धा, और चतुर बनिया हैं। उस दिन के मेहमान, महापुरुषों के योग्य नम्रता की मूर्ति थे, वे सदा सच्चिदानन्द की तलाश में रत रहे हैं। वे वेदव्यास की तरह जिज्ञासु, भीष्म पितामह की तरह योद्धा और बाज़ार में बैठने वाले नानक की तरह आत्मदर्शी थे। सत्य की राह में ये विविध रूप मिल कर उनके अन्दर प्रकाशवान हुए थे।

अन्त में पुष्पहारों से भूषित, उस दिन के मेहमान, जो स्वयं गान्धी जी ही थे उत्सुक जनता के सामने व्याख्यान देने खड़े हुए। ये उनके पहले वाक्य थे।

"जलसे के सभापति ने मुझे इस बात के लिए सराहा है कि मैंने अपने जीवन में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों का संतुलन किया है। किन्तु उन्होंने मेरे चरित्र की बुनियादी चीज़ को नज़र-अन्दाज़ किया है कि मैंने सदा एक ऊँचा शूद्र—मानवता का सेवक—बनने की आकांक्षा की है...।"

उस समय स्वर्ग की सुनहरी छत से वे रजत आत्माएँ जिन्होंने प्राचीन काल में प्रगति के दुर्गम पथ पर मानवता का मार्ग प्रदर्शन किया था, एक

स्वर में बोल उठीं—"तुम हममें से एक हो और हमेशा-हमेशा के लिए तुम्हारी जगह हमारे बीच में सुरक्षित है।"

जनता ने बेशक यह गुप्त वार्ता नहीं सुनी किन्तु जब उसने हर्षोन्माद से तालियाँ बजाईं तो मानो वह अवचेतन दशा में उन युगों के सत्य का समर्थन कर रही थी कि—

"जो बड़ा होना चाहे उसे सेवा करनी चाहिए।"

गांधी जी और गेटे

संस्कृति (कल्चर) का अपना एक अलग राज्य है। वहाँ सब राजा हैं। वह एक सच्चा जनतन्त्र है। वहाँ ज्योति ही ज्योति है। घृणा रूपी अन्धकार को उसमें कोई जगह नहीं। संस्कृति के मन्दिर में घृणा कुफ्र है। संस्कृति की वेदी पर हर मनुष्य अपनी तुच्छ और पवित्र भेंट लाकर चढ़ाता है और विश्वात्मा की महान् शक्ति हर भेंट को एक समान उत्साह के साथ स्वीकार करती है।

हमें संस्कृति की भेंट चढ़ाने वाले की जाति या उसके वर्ण से कोई मतलब नहीं। हमें केवल उसी भेंट के गुण को देखना है। उस भेंट के गुणों को जिसे वह सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के सच्चे और महान् आदर्शों की सेवा में चौराहे पर लाकर रख देता है। गायक मर जाता है किन्तु उसका गीत हमेशा जीवित रहता है।

इसलिए आशा की जाती है कि इस जमाने में जबकि देश-देश के बीच जबरदस्त और गहरी शत्रुताएँ उभर रही हैं संस्कृति का पल्ला एक दूसरे की निन्दा के मैल से गन्दा न किया जाएगा और उसे सूर्य के प्रकाश में चमकता रहने दिया जाएगा। सचमुच वे सब लोग तारीफ के काबिल हैं जिन्होंने वर्त्तमान महायुद्ध की गरमा-गरमी और पक्षपात से ऊपर उठ कर अपनी संस्कृति के अतिरिक्त संसार की और सब संस्कृतियों के लिये सच्चा आदर अपने दिल में बनाए रखा है। सचमुच इस तरह के लोग ही दुनिया के सच्चे रत्न हैं और उन्हीं से दुनिया ज़िन्दा है।

दुनिया के सब लोग इस बात को मानते हैं कि गांधी जी यदि इस ज़माने के सब से बड़े आदमी नहीं, तो सब से बड़े आदमियों में से एक ज़रूर हैं। जर्मनी का महान् कलाकार गेटे अपने समय में संसार के चोटी के कलाकारों में गिना जाता था। मनुष्य-समाज के लिए गांधी जी का

जो कुछ मिशन है, जो कुछ उनका सन्देश है; वह उनकी ज़िन्दगी के एक-एक काम और एक-एक बात से साफ़ झलकता है। इसी तरह गेटे के सर्वश्रेष्ठ गीत-नाट्य 'फास्ट' से कवि की कल्पना शक्ति उसके आदर्श-वाद और उसकी आकाँक्षाओं का पूरा-पूरा पता चलता है।

गेटे दूरदर्शिता और शब्दों का कलाकार है। गांधी जी दूरदर्शिता और कर्म में दक्ष हैं। फिर भी ये दोनों एक दूसरे के साथी और एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए दिखाई देते हैं। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि गेटे का दिल जिस तरह का आदर्श आदमी चाह सकता था गांधी जी उस तरह के आदर्श आदमी हैं और गांधी जी का दिल जिस तरह का आदर्श कलाकार चाह सकता है गेटे ठीक वैसा ही कलाकार था।

गेटे के अनुसार आदर्श मनुष्य की पहचान क्या है? उसमें क्या-क्या गुण होने चाहिए? अपने नाटक में गेटे ने 'फास्ट' का जो चित्र खींचा है उससे हमें इस सवाल का जवाब मिल सकता है। गेटे का चरितनायक परोपकार के सब से ऊँचे शिखर पर खड़ा हुआ है। दुनियावी ताक़त और शान-शौकत की घाटियों की सैर करने के बाद, सांसारिक सुख और सौन्दर्य को भोग चुकने के बाद—और ये सब चीज़ें उसके जीवन में मानो तेज़ी के साथ आ-जा रही थीं—'फास्ट' को जबरदस्त निराशा होती है, वह अनुभव करता है कि मैं बहुत बड़े धोखे में था। अन्त को उसे स्थायी और सच्चे सुख का रास्ता दिखाई देने लगता है। एक नज़ारा उसकी आँख के सामने से फिर जाता है। वह एक योजना बनाता है—

"मेरी कल्पना शक्ति ने एक बहुत बड़ी योजना बना डाली"

वह योजना क्या है?

"वह अपूर्व सुख सदा-सदा के लिए मेरा हो;

"इस शानदार समुद्र को मैं किनारे पर बाँध कर रख दूँ।

"जल की यह राशि अपनी सीमा के अन्दर रुकी रहे और दूर, पीछे को स्वयं अपने साथ ही टकराती रहे!

"पग-पग पर मैंने तय कर लिया कि मैं इस समुद्र का किस-किस तरह मुकाबला करूँ, यही मेरी इच्छा है।"

और उसने अपने इस स्वप्न को किस तरह पूरा किया? उसके हृदय और मस्तिष्क को चलाने वाली शक्ति क्या थी?

"कर्म ही सब कुछ है, यश या कीर्ति कोई चीज़ नहीं।"

उसने किस मसाले से काम लिया?

"इस तरह के ओजस्वी लोगों को जमा किया जाए, जिनमें उदारता हो, जिन्हें सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति की परवाह न हो।"

और इस सब का परिणाम क्या है?

"मैं लाखों और करोड़ों आदमियों को जमीन दे सकूँ, जमीन सुरक्षित हो या न हो, लेकिन मेहनत करने से फल दे सके।

हरे भरे और उपजाऊ खेत...धरती पर स्वर्ग की तरह दिखाई दें... और मैं वहाँ बहुत-से लोगों को देखकर खुश होऊँ, ऐसे लोगों को जो स्वतन्त्र लोगों के अन्दर स्वतन्त्र भूमि के ऊपर खड़े हुए हों।"

क्या इस जन्म के अन्दर गान्धी जी के जीवन का यही लक्ष्य और यही नमूना नहीं रहा है? करीब ५० बरस हो गए जब से कि वे "शानदार समुद्र को किनारे से बाँध कर रखने में" लगे हुए हैं, यानी वे जन-सामान्य का रक्त चूसने वाले और उनके श्रम से बेजा फायदा उठाने वाले बड़े-बड़े कल कारखानों और देश पर पूँजीवादी उद्योग धन्धों के हमलों को रोकने में और जन-सामान्य को उन हमलों के कँटीले पंजों से छुड़ाने में लगे हुए हैं। गाँधी जी का खेती के धन्धे और चरखे पर जोर देना वास्तव में 'फास्ट' के इस सिद्धान्त को अमल में लाना है कि—

"कर्म सब कुछ है यश या कीर्त्ति कुछ नहीं।" वह हमेशा मौके और बेमौके "ओजस्वी और शक्तिशाली लोगों को" जमा करते हैं। जिस स्वप्न को पूरा करने के लिए, जिस लक्ष्य की पूजा के लिए, उन्होंने अपने जीवन की सारी शक्तियाँ और अपना सर्वस्व लगा दिया वह यही है कि उनके देशवासी "स्वतन्त्र लोगों के बीच में स्वतन्त्र भूमि पर खड़े रह सकें।"

मानव-इतिहास में हमेशा काम करनेवालों को उनकी अपेक्षा ज्यादा मान मिला है जो केवल दूर के स्वप्न देखते हैं। स्वप्न देखने वाला आदर्शवादी 'क्लीओ' इतना प्रिय नहीं है कि जितना काम करने वाला कर्मी। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन में कवि या गायक की भी अपनी एक विशेष जगह है। आदर्शवाद की उन चोटियों पर जो स्वर्ग को छूती हैं कवि का बहुत बड़ा रुतबा है, किन्तु जो आदमी चल कर उन चोटियों पर पहुँचता है उसका रुतबा और भी ज्यादा है। ठीक यही अर्थ हज़रत ईसा के इन शब्दों का है "आदमियों में जो बड़ा बनना चाहे वह सेवा करे।"

इस सम्बन्ध में कि कवि बड़ा है कि सेवक, गांधी जी के जीवन की एक घटना बयान की जा सकती है। कई वर्ष हुए एक सार्वजनिक सभा में गांधी जी की ओर मान प्रकट करते हुए जलसे के सभापति ने कहा कि—हमारे प्रेम और आदर के पात्र गांधी जी में तीनों गुण एक जगह जमा हैं; ब्राह्मण की बुद्धिमता, क्षत्री की वीरता और वैश्य की व्यावहारिक बुद्धि। गांधी जी ने सभापति को धन्यवाद देते हुए कहा कि यदि सभापति की बात सच भी है तो कम से कम वह अधूरी जरूर है। गांधी जी ने कहा कि मैं अपनी जिंदगी भर विनम्र सेवा की उन पवित्र चोटियों तक पहुँचने की कोशिश करता रहा हूँ जिनके प्रतिनिधि शूद्र हैं।

कार्लाइल ने ठीक कहा है कि "Work is worship" अर्थात् काम ही पूजा है। जिसे हम लोग आमतौर पर पूजा कहते हैं वह वास्तव में पूजा हो भी सकती है और नहीं भी। काम करने वाला मुमकिन है अपने ही लिए काम करता हो किन्तु वह सदा दूसरों के लिए भी काम करता ही है। किन्तु पूजा करने वाला बहुधा केवल अपने ही मोक्ष या निर्वाण के लिये पूजा करता है। मनुष्य जाति के कुछ महान् उपदेशकों की यह दिव्य भावना, कि हम उस समय तक पूर्णानन्द से व्याप्त स्वर्ग में क़दम न रखेंगे जब तक कि हम बार-बार जन्म लेकर दूसरों को भी वहाँ ले चलने की कोशिश न कर लें, बहुत गहरा अर्थ रखती है। ईसा ने कहा है—"जो आदमी दूसरों के लिए अपना जीवन देता है वही अपना

जीवन बचा सकता है ।" हमें क्या पता मुमकिन है कि आसमान में सदा चमकने वाले तारे उन लोगों की ही आत्माएँ हों जिन्होंने मनुष्य जाति की सेवा की है और उसे पूर्णता की ओर आगे बढ़ते रहने में मदद दी है ।

इसलिए महान् कलाकार गेटे की नजरों में गांधी जी सनातन आदर्श पुरुष हैं, वे कर्मी हैं क्योंकि वे अपनी पूरी शक्ति-भर सारी दुनिया का भला करने में लगे रहते हैं और अपनी आत्मा और भूमि को माध्यम बनाकर सबके कल्याण के प्रयत्न में लगे रहते हैं। मुमकिन है कि इस पीढ़ी के आदमियों को ऐसा मालूम हो कि यह व्यक्ति रेत में हल चला रहा है, किन्तु जब हम ऐसे मनुष्य के कामों और उसके आदर्शों के असर को देखते हैं तो अन्त में हमें पता चलता है कि यह मनुष्य जिस मरुस्थल में हल चला रहा है उस मरुस्थल से वे तारे छिटक-छिटक कर बाहर गिरते हैं जिनमें अँधेरे में चलने वाले मुसाफिर पथ भूलते समय अपना रास्ता देख लेते हैं ।

गांधी मलंग

सूर्योदय में अभी देर थी, मुझे पुरानी दिल्ली से राजघाट की ओर जाते हुए कुछ लोग दिखाई दिये। ऐसा मालूम होता था कि वे यमुना में स्नान करने के लिए जा रहे हैं। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। बापू की समाधि पर पहुँच कर वे कुछ देर वहाँ बैठे और 'रघुपति राघव राजा राम' का गान करते रहे।

शान्ति के वातावरण में बापू की आत्मा को प्रणाम कर वे आगे यमुना की ओर चल दिये, मेरी आँखें दूर तक इन लोगों को देखती रहीं। मैंने अपने दिल में कहा—आज इन लोगों का स्नान सच्चा स्नान होगा, क्योंकि नदी में नहा कर तो केवल शरीर साफ होता है, किसी महापुरुष की चरणरज तो मानव आत्मा को भी स्वच्छ करती है।

यमुना की ओर जाने वाले ये लोग बराबर 'रघुपति राघव राजा-राम' का गान कर रहे थे। मैंने देखा कि उनमें से एक बड़ी संख्या 'सीता राम' के बाद अटक जाती थी, जैसे कि गांधी जी ने कभी भी बाकी की दो पंक्तियों का गान न किया हो। हालांकि इन दो पंक्तियों में क्या सत्य है यह सिखलाने के लिए उन्होंने अपनी जान भी अर्पण कर दी थी। यह सोच कर कि ये लोग इतने रूढ़िबद्ध हैं कि ईश्वर-अल्लाह को अब तक भी केवल अपने ही चूल्हे का चौकीदार समझे बैठे हैं, मेरे दिल पर गहरी चोट लगी। काश! वे सत्य का मुक्त आकाश देख सकते जहाँ ईश्वर और अल्लाह में कोई भेद नहीं।

कुछ ऐसे विचारों ने मुझे उदासीनता के अंधकार से घेर लिया। उसे दूर करने के लिए मैं चुपचाप समाधि के एक कोने में बैठ कर बापू की आत्मा की ज्योति की एक किरण ढूँढ़ने लगा, मैं उनके सिखलाये हुए सत्य का ध्यान करते-करते मग्न हो गया।

जब मैंने आँखें खोलीं तो सूर्य उदय हो चुका था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोमल किरणें जो मेरे माथे पर पड़ रही थीं, वे बापू के हाथ की कोमल उङ्गलियाँ थीं जो उन्होंने कभी मेरे सिर पर आशीर्वाद रूप रखी थीं।

मेरे दिल में अब उदासीनता की बजाय उमंग थी, आनन्द था, उत्साह था, क्योंकि मैंने सोचा लोग कितना ही सत्य को भूल जाएँ—अपने स्वार्थ के लिए या दलबाजी के नाम पर—वह तो अटल और अमर है और अटल और अमर ही रहेगा। यह मेरी ख़ाम-ख्याली न थी, आत्मा का स्वभाविक सत्य में अगाध विश्वास था, और इसका प्रमाण प्रभु ने मुझे प्रत्यक्ष दिया।

समाधि से उठ कर मैं अपने ठिकाने की ओर जाने के लिए तैयार हो रहा था। उसी समय वहाँ एक पठान जो सरहद के पार का बाशिंदा दिखाई पड़ता था, आ निकला। उसने अपने जूते समाधि के बाहर उतारे और फिर थोड़ी खामोशी के बाद दुआ पढ़ने लगा—

'या अल्लाह, गांधी मलंग की रूह को अमन बख्श। वह तेरा सच्चा ख़ादिम था, वह तेरा एक वल्ली था, क्योंकि उसने हम सबको, आदम-ज़ात को, सीधा रास्ता दिखलाया। हम लोग तेरे नाम पर आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। उसने हम को बतलाया ईश्वर-अल्लाह एक हैं और हम सब उसके बच्चे हैं। आपस में भाई-भाई हैं इसलिए हम सब को एक दूसरे के साथ मुहब्बत से रहना चाहिए। या अल्लाह हम को तब अकल बख्श, ताकत दे कि हम गांधी का सबक कभी मत भूलें : ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम।'

यह दृश्य देख कर मैं स्तब्ध रह गया, मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। सिर ऊँचा करके मैं पठान की तरफ देखने लगा। उसकी आँखों में भी आँसू थे। मैंने अपने मन से पूछा, यह जल कहाँ से आया? यह जल तो यमुना का नहीं है, मेरा मन कह उठा, यह तो किसी और ही नदी का जल है जिसका नाम प्रेम-नदी है, जिसके किनारे एक पवित्र प्रयाग

है जहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, यहूदी, पारसी सब मिल कर रहते हैं।

जैसे मेरे पाँव वहीं थमे रहेंगे और जैसे वह पठान भी अब कहीं नहीं जाएगा, यह विचार मेरे मन को छू गया। पर यह तो नहीं हो सकता था। पठान चल पड़ा, और उसके पीछे-पीछे मेरे पग भी उठ गये।

ठिकाने पर पहुँच कर मीरा के एक भजन की दो पंक्तियाँ मेरे मन में गूँजने लगीं—

> **मीरां के प्रभु गहिर गभीरा,**
> **हृदय रहो जी धीरा,**
> **आधी रात प्रभु दर्शन दीनो,**
> **प्रेम नदी के तीरा !**

मेरा मन कह उठा—उस पठान की आँखों में और तुम्हारी आँखों में जो जल भर आया था वह इसी प्रेम नदी का जल था, समझे ?

सचमुच उसी समय पठान की दुआ के शब्द मेरे मस्तिष्क के द्वार पर दस्तक देने लगे और मैं नतमस्तक होकर 'गांधी मलंग' के ध्यान में खो गया।

जब गांधी जी रोये थे !

पांडवों की, जिनके नायक स्वयं कृष्ण भगवान् थे, हार होती हुई दिखाई दे रही थी। इस हार का विचार करके शर-शैया पर पड़े हुए भीष्म पितामह रोने लगे। उन्हें रोते देख कर अर्जुन को खयाल हुआ कि शायद पांडवों के भाग्य की ओर से भीष्म पितामह को गहरी मायूसी हुई है और इसीलिए उनके आँसू निकल पड़े हैं। किन्तु साथ ही अर्जुन अच्छी तरह जानता था कि भीष्म पितामह कमज़ोर दिल के आदमी नहीं हैं। उनका मन भीतर से यह न मान सकता था कि केवल पांडवों के दुर्भाग्य को सोच कर ही भीष्म पितामह के आँसू निकल पड़े हैं। अर्जुन ने वीरवर भीष्म पितामह के पास जाकर उनसे उनके रोने का कारण पूछा। भीष्म ने जवाब दिया कि मैं उस हार को सोच कर नहीं रोया, जिसकी संभावना मेरी आँखों के सामने फिर रही है; बल्कि मैं यह देख कर रोया कि संसार के भाग्य-निर्माता कृष्ण एक ऐसी लीला रच रहे हैं, जिसमें विजय ही पराजय का रूप धारण कर रही है, नहीं तो इस सारे विश्व में कौन है जो शक्ति में, और युद्ध-संचालन की योजना में कृष्ण की बराबरी कर सके। उस दिन पूना से समाचार पत्रों के नाम तार आया कि जिस समय कस्तूर बा के मृत शरीर को अन्तिम संस्कार के लिए सजाया जा रहा था, उस समय कुछ आँसू गान्धी जी के नेत्रों से टपक पड़े। किन्तु, क्योंकि गान्धी जी को ईश्वर की इच्छा और ईश्वर की बुद्धिमत्ता दोनों में गहरा विश्वास है, इसीलिए उन्होंने तुरन्त ही उन आँसुओं को फिर ऊपर की तरफ़ लौटाल लिया। न जाने क्यों और कैसे जिस समय मैंने इस समाचार को सुना उसी समय मुझे भीष्म पितामह की यह कहानी याद आ गई।

किन्तु गान्धी जी रोये ही क्यों? क्यों? उनका हृदय उस व्यक्ति से

अपनी भौतिक पृथकृता का विचार करके कांप उठा जो क़रीब-क़रीब साठ साल तक उनकी आकांक्षाओं की साथिन रह चुकी थी ? यदि यह बात थी तो उनका सारा जीवन-दर्शन, जिसमें मृत्यु की एक खास महिमा है और जिसके अनुसार मृत्यु ईश्वर की दया का एक लक्षण है, वह सारा दर्शन गान्धी जी की परीक्षा के समय उनके जीवन का पक्का मार्ग दर्शक साबित न हो सका।

तो क्या वे इसलिए रोये क्योंकि भूख की जिस ज्वाला के अन्दर से उनके लाखों देश-भाई निकल रहे हैं, उसकी खबर सुन-सुन कर पिछले अठारह महीने तक जो भाव उनके हृदय में उमड़ रहे थे, वे अब फूट पड़े ? कुछ भी हो आखिर गान्धी जी मनुष्य हैं और जो चीज़ प्रकट नहीं की जा सकती या सहन नहीं की जा सकती उसे जल्दी या देर में बाहर निकाल देना ही होगा। इसलिए इसमें सन्देह नहीं आँसू ईश्वर की एक देन हैं। ये आँसू और भी अधिक दिव्य हो जाते हैं उस समय जब कि वे दुखियों और भूखों की सहानुभूति में नेत्रों से टपकते हैं।

मैं समझता हूँ कि गान्धी जी किसी दुःख के कारण नहीं रोये, बल्कि वे दुनिया में जो कुछ हो रहा है, उस पर आश्चर्य-चकित हो कर रोये। इस दुनिया के युद्ध में सब से पहले घायल होने वाला और मरने वाला सिपाही सत्य है, दूसरा न्याय और तीसरा शान्ति। यहाँ पर आत्म-त्याग की जगह 'सब से ज़ियादा ताक़तवर लोगों का जिन्दा रहना' ही शक्ति और विशेषाधिकार की कसौटी है। लोगों की योग्यता यहां उनके धन से पाई जाती है। बैंकों की यहां मन्दिरों की तरह पूजा की जाती है और मन्दिरों और गिरजों को कुछ रोग के बीमारों की तरह अस्पृश्य समझ कर बिल्कुल अलग छोड़ दिया जाता है। इस दुनिया में 'सीजर' अपनी बनावटी शान में सजा हुआ तख्त पर बैठा है। और ईसा मसीह मिट्टी में अपना सिर छिपाये हुए हैं। हज़रत ईसा को अपने अनुयायियों की उन करतूतों को देख-देख कर लज्जा आती है, जो उनके उपदेशों के ठीक विपरीत हैं।

गान्धी जी के रोने का यही कारण था। विश्व-व्यापी प्रेम के आदर्श के वे विनम्र भक्त हैं। इस प्रेम ही का नकारात्मक नाम अहिंसा है। इस प्रेम के पुजारी होने के नाते गान्धी जी एक पीढ़ी से अधिक तक लोगों को तरह-तरह से यह समझाते रहे हैं कि हिंसा के इस तरह के साधनों, जैसे हथियारों का उपयोग, दूसरों का आर्थिक शोषण, झूठ का निर्लज्ज प्रचार इत्यादि से पूरी तरह बचते हुए सब के भले और शांति के पथ पर चलो। किन्तु इस स्वार्थपरता, हिंसा और अपनी-अपनी आपाधापी की दुनिया में उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह रही।

किन्तु क्या गान्धी जी की आवाज व्यर्थ गयी? नहीं। धर्म का कानून यही है कि पहले केवल एक व्यक्ति उस पर अमल करता है और उसको चलाता है। बहुत दिनों तक वह अकेला ही खड़ा रहता है। आत्मबल में उसकी जड़ें होती हैं। पास से जाने वाले, दुनिया के साथ उसकी इस खुली 'बगावत' को देख कर, उसका मज़ाक उड़ाते हैं। जिन लोगों के हाथ में अधिकार होता है, राजसत्ता होती है, वे उस आदमी को दूसरों से अलग कर देते हैं, ताकि उसके आदर्शवाद का संक्रामक रोग दूसरों को न लग सके। इस तरह उसका अकेलापन पहाड़-सा दिखाई देने लगता है। मानव जाति के पैगम्बरों और मार्ग-दर्शकों का यही हाल होता रहा है।

किन्तु अन्त में धर्म का कानून अपना काम शुरू करता है। अज्ञान रूपी रात की अँधियारी में, दुनिया अपनी रूढ़ियों और अपने अंधविश्वासों के किलों और चहारदीवारियों के पीछे सुरक्षित सोती रहती है। उस आदर्श के पुजारी का एक-एक आदर्श धीरे-धीरे किन्तु लगातार शक्ति संचार करता रहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह पहाड़ से ढुलकते हुए बरफ़ के गोले का वेग बराबर बढ़ता रहता है। फिर एक दिन अचानक दुनिया को पता चलता है कि उसके घर की छत में एक सूराख पैदा हो गया है, जिसके रास्ते सुबह की रोशनी की किरणें पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा जल्दी उसके सोने के कमरे तक पहुँच जाती हैं।

मुमकिन है कि आज गान्धी जी की आवाज इस सूखी हुई पृथ्वी के पार न जा सके। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस आवाज में वह शक्ति छिपी हुई है, जो एक बार स्वर्ग को भी बाँध डालेगी। तब स्वर्ग से उस ईश्वरीय अनुकम्पा की वर्षा होगी, जो उन दिलों को भी पिघला देगी जिन्हें सत्ता ने और ऐश्वर्य की लालसा ने इस समय पत्थर बना दिया है। जिस सुनहरी बुत की दुनिया की कौमें इस समय पूजा कर रही हैं, ईश्वरीय दया की वर्षा उस बुत को उसकी जगह से उखाड़ कर फेंक देगी और दुनिया को दिखा देगी कि इस बुत के पैर केवल मिट्टी के हैं।

गान्धी जी के दिल की आवाज़ उनके आँसुओं में बन्द और संग्रहीत थी। कहा जाता है कि किसी हब्शी गुलाम को उसके मालिक ने कोड़ों से खूब पीटा। गुलाम जब और अधिक मार न सह सका तो फूट-फूट कर गाने लगा। उसके गाने में गहरी करुणा थी। उसमें वह पीड़ा थी जो मनुष्य की अन्तरात्मा को हिला देने वाली थी। ठीक उसी तरह की पीड़ा आज गान्धी जी के शब्दों और उनके आँसुओं में है। उस हब्शी गुलाम के गीत में बार-बार यह टेक आती थी—

मैं शिकायत नहीं करूँगा। मैं शिकायत नहीं करूँगा।
किन्तु मैं ईश्वर के पास जाऊँगा। मैं ईश्वर के पास जाऊँगा।
और मैं उससे सब कुछ कहूँगा।

गुरुदेव

सूर्य अस्त हो चुका था और मैं अपनी सैर से वापस कुटिया को आ रहा था कि यकायक मेरे मन में यह ख्याल आया कि 'उत्तरायण' की तरफ़ से होता चलूँ। यदि गुरुदेव बरामदे में बैठे होंगे, तो दर्शन हो जायेंगे। यद्यपि ऐसा होना सम्भव नहीं था, क्योंकि इधर कई दिनों से उनकी हालत अच्छी न थी और कोई उनसे इसीलिए मिलने न जाता था। जब मैं 'उत्तरायण' के पास पहुँचा; तो काफ़ी अँधेरा हो चुका था। आगे बढ़ते-बढ़ते जब बरामदे के नज़दीक पहुँचा, तब कोई बैठा है ऐसा लगा। बरामदे पर चढ़ते-चढ़ते मालूम हो गया कि गुरुदेव बैठे हुए हैं। गुरुदेव एक आराम कुर्सी पर आँखें बन्द किये हुए ध्यान में बैठे थे। मैं चुपचाप उनके चरणों के पास बैठ गया। कुछ देर बाद उन्होंने आँखें खोलीं; मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया और चुप बैठे रहे। कुछ देर यों ही बीत जाने पर उन्होंने अपना मस्तक ऊँचा किया और दाहिने हाथ से आकाश के चमकते हुए तारों की तरफ इशारा करके कहा "मुझे यह ताराओं से भरा-पूरा अंधकार बहुत अच्छा लगता है। जब दुनिया के झगड़े-रगड़े मिट जायेंगे; तब भी इन ताराओं की सत्य-साक्ष्य हमेशा की तरह वैसी रहेगी जैसी कि हजारों वर्ष से रहती आई है। वे तो हमेशा शांतं, शिवं, अद्वैतं का गीत गाते रहते हैं।"

यह कहकर वे शांत हो गये। मैं प्रणाम करके उनके पास से उठ अपनी कुटी की ओर चला। चलते-चलते मुझे उस दिन से २१ वर्ष पहले की एक स्मृति याद आ गयी, जबकि पहली बार मैं शांतिनिकेतन में आया था जिस दिन मैंने पहले-पहल गुरुदेव के दर्शन किये थे, वह दिन तो जीवन के कलेण्डर में लाल स्याही से अंकित है, क्योंकि जिस व्यक्ति को मैंने कई वर्ष तक केवल कवि के रूप में उसकी कविताओं के द्वारा

जाना था; उसे ही मेरी आत्मा ने आज अपने गुरुदेव के रूप में पहचाना, पुकारा और प्रणाम किया है।

आश्चर्य की बात है उस दिन के बाद बार-बार मैं शांतिनिकेतन आया हूँ और उनके समीप रहने का मुझे सौभाग्य भी काफ़ी मिला है, लेकिन मैंने कभी उनसे कोई प्रश्न पूछने का साहस नहीं किया है। कई दफ़ा उनको प्रणाम करने गया हूँ, लेकिन कुछ देर बैठकर वापस चला आया हूँ। एक दफ़ा तो हँसी में गुरुदेव ने मुझसे कहा—"तुमि कखनो किछु बोलो ना, तुमि तो केवल खेपा" (तुम तो कभी कुछ कहते नहीं, तुम तो केवल पागल हो)। उस दिन से मुझे यह 'पागल' नाम बहुत ही प्यारा है। और सत्य तो यह है कि मैं उनके प्रेम का ऐसा ही एक पागल हूँ, जैसा कि परवाज शमा का होता है। प्रेमी लोग पण्डित ही कब हुए! लेकिन यह जरूर ही कहूँगा कि मैंने उनके पास रहकर जो कुछ पाया है वह अमूल्य है।

उनके प्रेम के पारस में मेरे जीवन को ताँबे से सोने में बदलने की क्षमता है। उनके प्रेम के द्वारा मुझे यह विश्वास हो गया है कि यद्यपि मैं न कवि हूँ और न कलाकार, साहित्यकार हूँ न पण्डित ही, तब भी मेरे जीवन का कुछ न कुछ प्रयोजन तो जरूर होगा। गुरुदेव के नाटक 'डाक घर' में दही बेचने वाला अमल से मिलकर अपने कार्य के मूल्य को अनुभव करता है, जब वह रुग्ण लड़का उससे कहता है—"अरे भाई, दही वाले, जब मैं अच्छा हो जाऊँ, तो तुम मुझे भी "दही! दही लो, दही!" की पुकार लगाना अवश्य सिखाना। जिन जगत्-विख्यात कवि-सम्राट् गुरुदेव के निकट जाने के लिए हजारों व्यक्ति तरसते हैं, उनके सामने मुझ जैसा क्षुद्र व्यक्ति आजादी के साथ आ-जा सकता है, इसका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि गुरुदेव ने प्रेम के 'एक्सरे' से बाहर के आडम्बरों को भुला-कर मेरे अन्तर में जो परमात्मा बसता है, उसी को देख लिया है। इसका फल यह हुआ है कि मैंने उनसे एक प्रकार की आन्तरिक दीक्षा पा ली है।

इस दीक्षा के मन्त्र को जब मैं शब्दबद्ध करने की चेष्टा करता हूँ, तो मुझे उनकी 'गीताञ्जलि' में से तीन वाक्य याद आ जाते हैं, जो मेरे विचार से उस मन्त्र की सबसे अच्छी टीका है। यही तीन वाक्य सदा मेरे सामने लगे रहते हैं। मेरी मिट्टी की कुटिया की दीवारों पर भी यही लिखा है।

"जब कोई, हे प्रभु ! तुझे पहचान लेता है, तब फिर उसके लिये कोई पराया नहीं रह जाता।"

"मेरे जीवन का सिर्फ इतना ही अंश बाकी रहे, जिससे हे प्रभु ! मैं तुझको अपना सर्वस्व कह कर जानूँ।"

"हे जीवन-देवता, क्या प्रतिदिन मैं तेरे सम्मुख खड़ा रह सकूँगा।"

इन तीन वाक्यों में जो सत्य है, वह गुरुदेव की कई किताबों में विस्तृत रूप में पाया जाता है। एक दृष्टि से देखा जाय, तो गुरुदेव के साहित्य का मूल मन्त्र यही है; जो सत्य या पदार्थ सीमाबद्ध है, उसका सम्बन्ध असीम के साथ बाँधा जाय और जो सत्य या पदार्थ असीम की ओर उन्मुख है, उसे सीमाबद्ध किया जाय। इसीसे उन्होंने एक कविता में कहा है कि ईश्वर और सत्य का एक रूप नीड़ और दूसरा रूप आकाश। नीड़ का सम्बन्ध आकाश के साथ उसके द्वार के कारण बाँधा गया है, और मुक्त विस्तृत आकाश अपने आपको नीड़ के दरवाजे के सामने परिमित कर देता है 'डाक घर' का रुग्ण अमल कमरे में बन्द है; वह अपना संबंध बाहर के जगत् से कमरे की एक खिड़की के द्वारा जोड़ता है।

इस सीमा और असीम के बीच में पुल बाँधने का काम कवियों और कलाकारों का है। कवि और कलाकार तो मरमी होते हैं। और वे जो मरमी होते हैं; जमीन और आसमान में 'Jacob's ladder' यानी स्वर्ग-नसैनी लटकती हुई देखते हैं। बाइबिल के मरमी जेकब ने अपने एक आध्यात्मिक अनुभव में ऐसा ही देखा था। अपने अनुभव का जिक्र करते हुए वे कहते हैं कि इस सीढ़ी पर आसमान से ज़मीन का

तरफ ईश्वर के दूत ऊपर से नीचे आते हैं, और प्रभु के प्यारे पृथ्वी से आकाश की तरफ चरण चूमने जाते हैं।

मई महीने की पाँचवीं तारीख को गुरुदेव के इस जीवन के अस्सी वर्ष पूरे हो रहे हैं। मैं उनको प्रेम पूर्वक नम्र हृदय से प्रणाम करता हूँ। और अपने दिल की भावनाओं को इस टूटे-फूटे गीत के रूप में प्रकट करता हूँ।

— गुरुदेव, मेरे प्यारे, दिल में सरूर तेरा।
तेरे वे कमल नयन—शान्ति भरे सरोवर,
मैं डूब के हूँ पाता उनमें वो प्रेम तेरा।
ऊँची पेशानी तेरी कैसी वो शान वाली,
उसे देख याद आता आश्रम मुझे है तेरा।
कुछ बात है कि मुझको रहती है याद तेरी,
तेरी जिन्दगी का नूर हो राहे-चिराग़ मेरा।

स्वतंत्रता के अग्रदूत : रवीन्द्रनाथ

विश्व-बन्धुत्व के उपासक रवीन्द्रनाथ—जिनके भौतिक अवसान की प्रथम पुण्यतिथि अगस्त की सातवीं तारीख (१६४२) को पड़ रही है—अपने जीवन्त विश्वास की सचाई के कारण स्वाधीनता के अग्रदूत थे। स्वतंत्रता को वे संपूर्ण भाव से स्वीकार किये हुए थे; उनके मन-प्राण मनुष्य के पूर्णावयव व्यक्तित्व की खुशबू से सुरभित हो उठे थे। एक बार सन् १६३३ में आंध्र विश्वविद्यालय के एक 'एकसटेंशन लेक्चर' का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा था:

> मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य
> मुक्त करना और मुक्त होना है उस
> मुक्ति को प्राप्त करना जिससे वरेण्य
> जीवन का पथ आलोकित होता है।

किंतु उन्होंने अनुभव किया कि उनकी अपनी जन्मभूमि स्वतंत्र और मुक्त नहीं है और जिन देशों को स्वातंत्र्य तथा मुक्ति का उपभोग सहज है वे उसे जीवन की सेवा और एकता में नियोजित नहीं कर रहे हैं। इसी से क्षण भर चुप रह कर उन्होने तीक्ष्ण प्रश्न किया—कौन है जो विश्राम पाना चाहता है, जो आराम की खोज में है और उसे विश्राम मिलेगा ही क्योंकर?

आज स्वतन्त्रता के व्यापक युद्ध और संघर्ष के दिनों में हम भारत-वासियों के लिए ऊपर के संदेश से बढ़कर और कौन-सा महान् संदेश हो सकता है? अपनी इस, पुरानी विराम-प्रिय आलस्य की कठिन शृंखला को आज छिन्न-भिन्न कर देने का दुर्लभ क्षण क्या हमारे जीवन में नहीं आ गया है? क्या यह मनुष्य का निर्माण करने वाली मुक्ति की ध्रुव-तारिका के निर्देश पर बढ़े चलने की बेला नहीं? 'मनुष्य का निर्माण'—

कारण, बस निविड़ परतंत्रता के अधम वातावरण में रहनेवाला व्यक्ति आज एक आत्मशून्य, यांत्रिक पुतला ही तो है; भगवान् की दी हुई स्वतन्त्रता से उज्ज्वल और महिमान्वित मनुष्य कहाँ है ?

कवि का निजी जीवन अपने आप में उन सब बाधाओं के ख़िलाफ़ कठिन और अशेष युद्ध की एक सजीव कहानी है, जो बाधाएँ मनुष्य के गौरव और गति को पग-पग पर अवरुद्ध कर रखती हैं। स्कूल-मास्टर अपने विदेशी स्वामियों को प्रसन्न करने के लिए शिशु के मन को किसी जड़ साम्प्रदायिकता के बन्धन में बाँध रहा था। रवीन्द्रनाथ ने उसके ख़िलाफ़ मानो धर्म-युद्ध आरम्भ कर दिया। शांतिनिकेतन में उन्होंने शिक्षा का केन्द्र स्थापित किया, जहाँ तरुणों को अबाध मानसिक और अध्यात्मिक विकास के लिये अनुकूल आबहवा मिल सके। धनोन्मत्त व्यवसायी 'सुन्दर' के ऊपर अपने व्यापार की जड़ता की छाप बिठा रहा था। जो नित्यकाल का आनन्द वहन करता है, उसे ही वह लाभ से प्रत्याशित होकर बाज़ार की अपवित्रता का वाहन बनाये दे रहा था। रवीन्द्रनाथ ने वर्तमान सभ्यता की इस दुर्निवार प्रवृत्ति का विरोध किया और शिल्पियों के लिए एक ऐसा मुक्त स्थान दिया जहाँ लाभालाभ की धारणाएँ प्रवेश ही न कर सकें। मानव हृदय-मन्दिर पर आसीन भागवत सत्ता को धर्म का बाह्य आडम्बर अपमानित कर रहा था। रवीन्द्रनाथ ने उस महान संदेश को उदात्त स्वर से घोषित किया जिसके द्वारा मनुष्य अपने गौरव को समझ सके—अपनी शाश्वत पवित्रता का अनुभव कर सके ! हमारा जीवन और साहित्य दोनों पश्चिम का अंध और हास्यकर अनुकरण कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ उठ खड़े हुए अपनी निजस्व सच्चाई और सादगी लेकर, जिसमें वाणी का वरदान आ मिला। राष्ट्रीयता ने मनुष्य-मनुष्य के अन्तर की सहज प्रेमधारा को रोक रखा था। रवीन्द्रनाथ ने दिखाया कि पूर्व और पश्चिम—दोनों के हृदय में एक ही प्राणों की धड़कन बजा करती है—दोनों उस प्रकाश के लोकतन्त्र में रह रहे हैं जहाँ द्वैत का अंधकार नहीं है।

कवि होने के कारण रवीन्द्रनाथ के प्राण छन्दोमय थे; वे इस ब्रह्माण्ड के छन्द को सर्वत्र सुन पाते थे। आकाश की सुदूरस्थ तारिका का प्रकाश किस तरह घास के अन्तराल में छिपे जुगनू के भीतर प्रतिफलित हो रहा है, पथ के किनारे का उपेक्षित फूल और मनुष्य का विकासोन्मुख जीवन किस तरह एक ही छन्द में गुँथे हैं, इसे वे अनुभव कर पाते थे। उस छन्द को जो भंग करता था उसकी वेदना उनके मर्म में आ लगती थी। स्वतन्त्रता तथा मुक्ति—के भीतर ही छन्द का सारा रहस्य निहित है। पाँवों में बेड़ियाँ जकड़कर कोई नहीं नाचता, नृत्य का अर्थ ही आज़ादी है। इसलिए मनुष्य अपनी दैवी सत्ता का प्रकाश तब तक नहीं कर सकता जब तक वह दासता के मलिन वस्त्रों से अपने को ढाँके हुए है—फिर वह दासता राजनैतिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो, नैतिक हो, अथवा आध्यात्मिक!

इसीलिए आज मानवीय महिमा के अन्वेषक और प्रचारक उन रवीन्द्रनाथ को हम अपने भक्ति-पूर्ण प्रणाम अर्पित करें, जिन्होंने उस महिमा का भागवत-स्वरूप हमारे निकट उद्भासित किया।

गुरुदेव के 'गुरु'

आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के 'गुरु' कौन थे ?—इस प्रश्न ने बहुत-से जिज्ञासुओं की चिंता को आलोड़ित किया है। जब पहले-पहला 'गीताञ्जलि' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ तब थियॉसफिस्ट संप्रदाय ने समझा कि हिमालय की गुहाओं में रहने वाले तथा कथित ऋषि-मुनियों की ओर ही रवीन्द्रनाथ ने 'माइ मास्टर' कहकर इशारा किया है। ईसाइयों ने सोचा कि इन गीतों में बाइबिल की बरबस याद दिलाने वाली रहस्यमयी तीव्र दृष्टि और गहन अनुभूति की पुनीत व्यंजना के भीतर से बराबर प्रभु यीशु को ही पुकारा गया है। किन्तु रवीन्द्र-साहित्य का हर विद्यार्थी जानता है कि ऐसी कोई धारणा बनाने का कारण वस्तुतः इस साहित्य में नहीं है। 'प्रभु' का अर्थ कवि की चेतना में भगवान् के आत्मीय स्वरूप से ही रहा है, और उन्हीं को अन्यत्र उन्होंने 'जीवन-देवता' कहकर भी संबोधित किया है।

तथापि एक दिन एक सिंधी बालिका ने शांतिनिकेतन में उनसे अचानक पूछा था : 'आपके गुरु कौन हैं ?' कवि ने तत्काल उत्तर दिया : 'बुद्धदेव !' उत्तर महत्वपूर्ण है, कारण, यह मत बार-बार प्रकाशित किया गया है कि रवीन्द्रनाथ की अनवरत चिन्तना केवल उपनिषदों की विचार-धारा से प्रभावित हुई थी। बात सच भी है। किन्तु यह भी एक दम संभव है कि कवि के निकट परमात्मा केवल व्यक्तिगत प्रभु ही नहीं, अनंत स्वरूप भी रहे हों, 'तत्' हो गए हों, जो प्रेमघन थे वे परम धर्म-स्वरूप बन गए हों। क्या यह अनंत और असीम भाव कवि के आध्यात्मिक विकास का परवर्ती स्वरूप था ? आत्मा की तीर्थयात्रा में कवि शुरू के दिनों में इतने अधिक स्पष्ट रूप से अनंतचारी नहीं थे। हाँ, यदि हम उनकी तरुणाई के समय की 'एकमेवाद्वितीयम' की आरम्भिक आंतरिक अनुभूति की बात सोचें तो कदाचित् किसी दूसरे परिणाम पर पहुँचेंगे।

सच तो यह है कि यद्यपि कवि ने 'नाना मानसिक उपलब्धियों के भीतर से नाना 'गीत' गाये थे, फिर भी उन गीतों का चरम संकेत 'उन्हीं'

की ओट था। इन संकेतों के लक्ष्य कभी तो परम व्यक्तिगत देवता थे, कभी तत् और कभी धर्मस्वरूप महान् सत्।

इन पंक्तियों के लेखक ने उनके अंतिम दिनों की रचनाओं को पढ़कर बराबर यही अनुभव किया है कि शाश्वत सत्ता की निर्वैयक्तिक अनुभूति इन दिनों सबसे अधिक प्रगाढ़ थी। संभव है यह अनुभूति उपनिषदों के उन दो प्रधान विचारों से प्रभावित रही हो जिनमें 'जीवन के सत् धर्म' की अलग-अलग उपलब्धियों का उल्लेख है। क्या यह इसलिए था कि उन्होंने इसी बीच बौद्ध-चिन्ताधारा का विशेष अनुशीलन किया था? अथवा, क्या यह आधुनिक विज्ञान के सतत अध्ययन का दूरवर्ती परिणाम था? क्या बुद्धदेव के समान उन्होंने भी अपने अंतिम दिनों में यह बोध कुछ अधिक गहन भाव से किया था कि वाणी के अशेष वैभव और विलास के द्वारा भी अंतर में जिसका साक्षात्कार किया गया है, उसे व्यक्त करते समय केवल मौन का ही स्वरूप व्यक्त होता है, इसलिये उसे 'तत्त्वमसि' कहना ही उचित होगा? इस सिलसिले में एक छोटी-सी बात की चर्चा कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। एडमण्ड् होम्स की पुस्तक 'क्रीड ऑव दी बुद्ध' (बुद्ध का धर्म) कवि के अत्यन्त प्रिय ग्रन्थों में से एक थी जिसे वे अक्सर ही पढ़ा करते थे जो घटना कुछ अनोखी-सी है। किन्तु यह भी बहुत संभव है कि जब उन्होंने उस सिंधी लड़की को उक्त जवाब दिया था तब इस पुस्तक की भाव धारा में उन्होंने सद्यः अवगाहन किया था। और यह भी कौन नहीं कह सकता कि बुद्ध से उनका अर्थ उस चिरप्रबुद्ध से था जो सदा 'जनानां हृदये सन्निविष्टः' है? वह तो अवसर पर सिद्धार्थ से बुद्ध बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, 'बुद्ध' का अर्थ उनके निकट 'परम धर्म' के व्यक्तिगत प्राणमय स्वरूप से भी हो सकता है। ऐसी व्यक्तिगत उपलब्धि केवल उसी के लिए संभव है जिसने शाश्वत सत्य को प्रेम और त्याग, सेवा और समर्पण के द्वारा अपना निकटवर्ती आत्मीय बना लिया है। यही ठीक भी मालूम होता है, कारण गांधी जी के शब्दों में 'धर्म और धर्म के नियंता' दोनों में भेद ही कहाँ है?

गायक रवीन्द्रनाथ

नीरवता आत्म की वाणी है; संगीत अन्तः पुरुष की झंकार है। यही नहीं, वह परम-पुरुष के साथ साक्षात्कार करने का सब से सरल और उत्कृष्ट माध्यम है। यही कारण है कि सब से आदिम और सब से प्रवीण साधकों ने समान रूप से संगीत के माध्यम को अपनाया। मौन के समान संगीत भी उस प्रशस्त वातायन जैसा होता है जिससे हम प्रेम, आनंद और ज्ञान के सीमाहीन समुद्र की ओर झाँक लिया करते हैं।

इसीलिए गायक रवीन्द्रनाथ का समादर भारतवर्ष की ग्राम्य कुटीर से लेकर पंडितों की मंडली तक एक जैसा है। उनके गानों में 'नावक के तीर' का चोखापन है जो भाव को सीधे हृदय में प्रवेश करा देता है, यद्यपि गीतों की विषय वस्तु उपनिषदों के रहस्यमय सत्य हैं। उपनिषदों के मंत्रों में जो रहस्यात्मक ऊँचा आरोहण है वह साधना में दीक्षित साधकों के ही आयत्त की चीज़ है। किन्तु कवि के गानों ने ऐसे स्निग्ध प्रकाश को चारों ओर फैलाया है जिससे धरती और आकाश दोनों ही उज्ज्वल होते हैं। इस स्वर की प्राणमयी धारा से जो चाहे अपना कलश भर कर ले जा सकता है।

पूर्व और पश्चिम में—विशेष कर पूर्व के मर्म भारतवर्ष में—साधारण जनता की यह गहरी इच्छा रही है कि वह रवीन्द्रनाथ के गीतों को उनके मूल स्वरों में सुन सकती। अभी तक वे उन गीतों के अर्थ तक ही पहुँच सके थे जिसका सबसे सफल वादन स्वर था, किन्तु भाषा की मोहकता से परिचित न होने के कारण वे उसके मर्म तक नहीं पहुँच सके। भारतीय-संगीत का आधार स्वर का माधुर्य होने से उन्होंने उसका आस्वाद तो लिया, किन्तु भाषा के जादू को न पकड़ सके।

अभी हाल ही में उनकी यह आकांक्षा भली भाँति पूरी हुई है।

काशी के संगीतज्ञ—एक फ्रेंच सज्जन—श्री ए० दानियेल् पिछले बहुत वर्षों से भारतीय संगीत की साधना कर रहे हैं। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के कुछ चुने हुए गीतों को मूल रूप में रोमन और नागरी लिपियों में बाँधा है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने स्वरलिपि की एक नई अथवा संशोधित पद्धति भी निकाली है और हारमोनियम का संस्कार करके एक उपयुक्त यंत्र भी तैयार किया है। इस यंत्र ने हारमोनियम जैसे 'अस्पृश्य' समझे जाने वाले यंत्र का आधार ही बदल दिया है। श्रुतियों की भित्ति पर बजने वाला यह यंत्र अब 'हरिजन' न हो कर 'ब्राह्मण' बन गया है, और वीणा की मर्यादा लेकर सरस्वती के मंदिर में प्रवेशाधिकार पा गया है।

इस क्षेत्र में पहले भी कुछ काम हुआ था। कहा जाता है कि 'गीतांजलि' के प्रकाशित होने के बाद कलकत्ते के एक मशहूर गिरजे में कोई पादरी रविवार की प्रार्थना के समय रवीन्द्रनाथ के कुछ गीतों को पश्चिमी स्वरशैली पर प्रायः ही गवाया करते थे। ऐसे ही कुछ 'स्वरात्मक अनुवाद' यूरोप और अमेरिका में भी गाये गए थे। फिर एक उच्च संगीताचार्य ने बँगला गीतों की पश्चिमी पद्धति पर स्वरलिपियाँ भी बनाई थीं। इन स्वरलिपियों में भी पूर्ववर्ती लिपियों की तरह स्वर पश्चिमी शैली में बाँधे गए थे। इसीलिए मोशिए दानियेल् का कृतित्व इस बात में है कि उन्होंने मूल बँगला गीतों के मूल स्वरों को ही—मूल शब्दों के साथ—नागरी एवं रोमन स्वरलिपियों में अंकित किया है। साथ ही उनके हिन्दी और अंग्रेजी काव्यगत रूप भी दिये हैं। स्वरलिपियों की पद्धति एक है। जो यंत्र इन स्वरों को झंकृत करता है इसमें इतनी सूक्ष्मता है कि स्वर की बारीक-से बारीक और कठिन-से कठिन मींड़-मुरकी-मूर्च्छना भी बनाई जा सके तथा जिसकी स्वर-लहरी में वीणा की उदात्त, मन्द्र मर्यादा भी हो। यह इतनी सफलता के साथ किया गया है कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के प्रसिद्ध गायक श्री पॉल रॉब्सन ने हजारों श्रोताओं के समक्ष मोशिए दानियेल् की स्वरलिपियों से चुनकर दो विशेष गीतों को गा कर जनता को मुग्ध कर दिया था।

संभव है अपरिचित कानों को रवीन्द्रनाथ के स्वर कुछ अनोखे से सुनाई पड़ें। किन्तु तनिक से अभ्यास और संस्कार के बाद वे कवि के स्वर और वाणी के मर्म को सहज ही हृदयंगम कर सकेंगे। इनका आधार भारतीय-शास्त्रीय संगीत है। क्रमशः श्रोता उस भारतीय-आत्मा के साथ भी साक्षात्कार कर सकेंगे जो इन स्वरों में बोल रही है। पश्चिमी कलाविद् शुरू-शुरू में भारतीय शिल्प को भी सही नजरों से नहीं देख पाते थे। धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भारतीय शिल्प की महानता को समझने लगी। आर्यावर्त्त का उदार शिल्पभण्डार उनके आगे खुल गया। संगीत के क्षेत्रों में भी ऐसा ही होगा।

मोशिए दानियेल् ने उस विशाल सेतु के एक और भी स्तंभ को सबल बनाया है जो पूर्व और पश्चिम के दुर्लंघ्य व्यवधान को भरने की कोशिश कर रहा है। ऐसे ही प्रयत्नों से क्रमशः दोनों महादेशों की संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आकर मानव-मैत्री के सूत्र और मानवज्ञान के प्रकाश में बंधुत्व स्थापित कर सकेंगी। संसार को आज इसी की बड़ी आवश्यकता है।

रवीन्द्रनाथ के साथ एकतान

अभी उस दिन की बात है। शान्तिनिकेतन की शालवीथिका के तरुण पल्लवों को जब रवीन्द्रनाथ की वासन्ती आत्मा ने चंचल कर दिया था, मैंने अपने हृदय-यन्त्र की घुण्डी खोल दी और चाहा कि उस आत्मा के सन्देश को पा सकूँ। जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा था, मानो नवीन फूल-पत्तों की ताज़गी के मौसम के साथ जब हम नृत्य और गीत द्वारा अपने चित्त का स्वागत सँजो रहे थे, वे हमारे बीच आ गये हों। सौ ओर के पंछी ने मीनार के मुअज़्ज़िन की तरह जब दुनिया को कर्म और उपासना के इस जगत् में जागने के लिए पुकारा, तभी मैंने अपनी इस नज़र की मूर्ति के निकट अपने उत्सुक कान लगा दिये और भीतर-ही-भीतर जैसे उसी उदात्त वाणी का स्वर सुना :—

"यही पुण्यस्थल है, जहाँ मेरे श्रद्धेय पिता जी निविड़ भाव से भगवान् का स्पर्श पा सके थे—जाग उठे थे। उनकी यह पुनीत आज्ञा थी कि जो यहाँ आये, वह इसी जाग्रत चैतन्य के भीतर रहने की चेष्टा करे। जिस सत्य को उन्होंने राजा राममोहन राय के निकट पाया था और जिसके दीपक द्वारा ब्राह्म-समाज को आलोकित कर रखा था, उसे वे मानो मेरे हाथों सौंप गये थे। उन्होंने मुझसे कहा—'देखना, प्रकाश कभी धुँधला न होने पाये।'

मेरे पिता और गुरु ने ऐसी ही दोहरी सम्पत्ति का दायित्व मुझे सौंपा था। मैंने उसे सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया था और शिरोधार्य करते हुए मन-ही-मन निश्चय किया था कि अपनी शक्ति-भर इसके लिए कुछ भी उठा न रखूँगा। किन्तु चिर-नवीन-चिरंतन ने उस पथ का मुँह कहीं मोड़ दिया, जिस पर मैं जा खड़ा हुआ था, और मैंने अपना आसन व्यास-गादी पर न पा कर इन्हीं शाल-वृक्षों की छाया में बिखरा पाया।

और मानो उस परम वाणी ने मेरे कानों-कान कहा—'यह बंसी लो, जो तुम्हारे खेल की साथिन होगी और जिसके सुर से तुम गम्भीर और विचित्र संगीत की धारा बहा सकोगे।'

जब वसन्त की बहार ने सुदूर की खुशबू से मन-प्राण भर दिये, तब मैंने बाँसुरी का सुर साधा; जब वर्षा-सुन्दरी पाँवों में रिमझिम-नूपुर पहन कर धरती की नृत्यस्थली पर थिरक उठी, तब मैंने बाँसुरी की तान छेड़ी। बच्चों ने मेरा गीत सुना और आ कर मुझे इस तरह घेर लिया, जैसे मैं स्वर्ग का जादूगर-गायक होऊँ। उन्होंने बंसी के गीत सुनने चाहे और मैंने तान छेड़ दी; क्योंकि मैं जानता था, उनकी माँग प्राणों की माँग है, जीवन का आह्वान है। किन्तु तब भी सुरों के पीछे मुझे सदा इस बात का बोध रहा कि यह बाँसुरी मेरे जीवन-देवता का ही दान है और इस संगीत के भी वही स्वामी हैं।

कौन जाने, शायद मेरे प्रभु को मेरा सुर पसन्द आ गया, गान भा गया; तभी तो उन्होंने अपने आदेश द्वारा मुझे सम्मानित किया कि मैं शान्तिनिकेतन से दूर इस फैले हुए विश्व में विशाल मानव-समाज के जादूगर-गायक की तरह भटकता फिरूँ।

तब मैं चल निकला और घूमा-फिरा—पूरब और पच्छिम। मानव-सन्तान ने मेरा गान सुना और शान्ति के सुरभित पथ पर वे मेरे पीछे-पीछे चल पड़े—सामने एक में निवास करने वाले अनेक तथा अनेक के निवासी एक के असीम पारावार की तट-रेखा पर। उन्हें ऐसा लगा, मानो जादू की खिड़कियाँ खुल गई हों।

किन्तु तत्काल ही एक भयंकर तूफान घुमड़ आया और उसके झपट्टे में जादू की खिड़कियाँ बन्द हो गईं; रोशनी बुत गई। सब जगह 'ब्लैक-आउट' हो गया और उस सघन अँधियारे ने मनुज-सन्तान के दीप्त मुखों को ढँक लिया; उनके हर्ष से स्फीत स्वर को उदास श्मशान की साँय-साँय में डुबा दिया। किन्तु सौभाग्य की बात इतनी ही है कि उदार स्वर्ग के आँगन में 'ब्लैक-आउट' नहीं होता सारे आकाश को छापकर लाख लाख

तारों के दीपक टिमटिमा उठते हैं, जो नीचे धरती के निवासी मनुज की सन्तानों के ढँके-मुँदे प्रकाश को खुश होने का सन्देसा देते हैं; क्योंकि प्रभात आ पहुँचता है; सत्य के द्रष्टा अपने आलोक-रथ पर आसीन हो कर आ जाते हैं।

युग-युग के उसी अतिथि के लिए आज शान्तिनिकेतन अपने मंगल थाल में पूजा के पुष्प और चन्दन-अक्षत ले कर प्रस्तुत हो जाये, अपना उदात्त शंख सँभाले। ऐसा न हो कि नादान किशोरी की तरह वह सोया रह जाये और चिरकाल का दूल्हा उसके दरवाजे से फिर जाये।..."

इसी समय आसमान के एक हवाई-जहाज़ की अलस आवाज़ ने बाधा दी और मेरा रेडियो सहसा बन्द हो गया। फिर उसने काम करने से साफ़ इन्कार कर दिया।

रवीन्द्रनाथ के चित्र

पश्चिम से आया हुआ कोई अतिथि शान्तिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ के पुत्र के सुन्दर और सुरुचि-सज्जित कमरे की दीवारों पर जड़ी हुई तस्वीरें देख रहा था। तस्वीरें सभी गुरुदेव की आँकी हुई थीं। जैसा कि स्वाभाविक था, अतिथि ने उनके विषय, शैली और अंकन-प्रणाली के बारे में प्रश्न पूछे। 'केवल एक क्रीड़ा और कौतुक' ('A mere pastime and a phantasy') गुरुदेव ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया !...किन्तु इन डेढ़ हजार से भी ऊपर संख्यक चित्रों की ओर दृष्टि दौड़ानेवाले के मन में सहज ही यह सवाल उठता है—क्या यह सब-कुछ महज क्रीड़ा और ख़ामख़याली ही है ? रंगों की यह दुनिया क्या केवल तमाशा ही होगी ?

लेकिन एक तरफ से शायद कवि-शिल्पी का यह उत्तर एकबारगी सही है। शिल्प की सम्पूर्ण सृष्टि पर मानो मनुष्य की आत्मा का आनन्द क्रीड़ा-कौतुक की छाप लगा देता है। कवि शेली का अमर पंछी जिस तरह कौतुक के आवेश में अवश गान गा उठता है, आकाश के सुदूर कोने से जिस तरह 'स्वतः उच्छ्वसित संगीत' अपने को धरा पर ढाल देता है, खेल की वही मस्ती और खुशी का वही तराना शिल्प-रचना का सबसे सही परिचय है। वही चिरकाल की कहानी है, जिसमें शाश्वत शिशु-सृजन की अदम्य प्रेरणा पाकर फैली हुई रेत पर बालू के घरौंदे बनाता है, गढ़ता है और मिटाता है। अगर कोई उससे पूछे कि यह सब क्यों है, तो बालक के पास उसका एक ही छोटा और पूरा जवाब है—'मुझे अच्छा लगता है।'

किन्तु इसी का और भी एक पहलू है। और इस छोटे-से निबन्ध में इसी दूसरे पहलू से रवीन्द्रनाथ के चित्रों के मूल अर्थ तथा विषय तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध के शुरू में

रवीन्द्रनाथ के मन में एक प्रकार की क्लान्ति संचारित हो गई थी; कविता-देवी की उपासना के भीतर—अर्द्धरात्रि में चुपके से घुस आने वाले चोर की भाँति—एक अजब थकान आ बैठी थी। सम्भव है, इसका कारण उस कुण्ठा के भीतर छिपा हुआ हो, जिसे रवीन्द्रनाथ तब कभी-कभी अनुभव किया करते थे, जब वे जीवन के प्रधान कर्मक्षेत्रों में अपने अन्तर के आदर्शवाद को रूप देने में बाधा पाते थे। तब उनकी आत्मा एक प्रकार के संकोच का अनुभव करके जैसे हाँफ उठती थी; वे विश्राम चाहते थे।

और सबसे बड़ा विश्राम मनुष्य तब पाता है, जब वह दैनन्दिन जीवन के प्रधान और अभ्यस्त कामों में एक परिवर्त्तन ला पाता है, जैसे नदी अपनी परिचित धारा का पथ छोड़कर यहाँ-वहाँ मुड़ जाती है, जिससे उसकी आज़ादी, ताज़गी और ताक़त बनी रहे, वह बन्धन में उलझी न रह जाय।

और सिर्फ़ इतना ही क्यों, प्रस्तुत और व्यतीत जीवन में संचित अनुभव तथा चिन्ता की राशि-राशि किस तरह 'मुक्ति' पाएगी, यदि वह केवल एक ही रास्ते बाहर होती रहे? इसीलिए भीतर से जब वे चेतना के द्वार पर आकर बार-बार कुण्डी खटखटाने लगीं, तब बिना द्वार खोल कर उनका स्वागत किये कवि का कोमल और अतिथि-वत्सल चित्त रह ही कैसे सकता था?

इस दृष्टि से यदि हम रवीन्द्रनाथ की सृजन-चेष्टा पर विचार करें, तो उसके विपुल वैचित्र्य का रहस्य ठीक समझ में आ जायगा। भीतर की उपचित गति को बहने के लिए रास्ता देने के लिए ही रवीन्द्रनाथ ने साहित्य, संगीत, शिक्षा और ग्रामोन्नयन के क्षेत्र में असंख्य प्रयोग किये थे। उनके भीतर की अधीर व्याकुलता इसी तरह प्रकाश पाना चाहती थी। उन्होंने स्वयं ही गाया है—'मैं चंचल हूँ, मैं सुदूर का प्यासा हूँ।'

किसी कवि ने कहा है—'स्नेह में डूबी हुई याद मुझे आस-पास से

घेर कर रखने वाले अन्य दिनों का प्रकाश ला देती है।' 'अन्य दिनों के प्रकाश' का रहस्य अनायास ही हमारी समझ में आ जाता है, जब हम रवीन्द्रनाथ के चित्रों पर एक नज़र दौड़ाते हैं। यह देखिए, एक व्यक्ति की भीषण आकृति है, जो एक और व्यक्ति की छाती में छुरा भोंक रहा है। वह देखिए, किसी की आँखों से गुस्से की आग बरस रही है। यहाँ एक सुकुमार मुख है, जिसकी मृदुल शोभा में मातृत्व का सारा दुलार जैसे सघन होकर बरसने आया है; और फिर दूसरी तरफ़ मनुष्य-भोजी की प्रकाण्ड-निर्मम मुद्रा हमारे मन को क्षोभ और जुगुप्सा से भरपूर किये दे रही है। यहाँ देखिए, एक दृश्य है, जिसके पहाड़-पर्वत, नदी-निर्झर, फूल-पत्ते हमारे देखे हुए नहीं जान पड़ते। या फिर उधर देखिए, उस जन्तु की ओर, जिसकी बनावट भी किसी परिचित पाशवाकृति से नहीं मिलती-जुलती।

कहते हैं, गर्भस्थित बालक को भीतर ही भीतर अपने विकास की सारी सीढ़ियाँ पैदा होने से पहले पार करनी होती हैं। इसी तरह हमारा जीवन भी समूचे विकास का एक संक्षिप्त संस्करण ही होता है। अपने ज्ञान-कर्म-उपासना के भीतर से हम उन असंख्य सम्भावनाओं का एक बहुत ही थोड़ा-सा अंश प्रकाश करते हैं, जो हमारी आत्मा में निवास करती हैं। इसीलिए हमारी सत्ता का चेतन अंश एक तरफ़ असीम अचेतन द्वारा और दूसरी ओर परम चेतन द्वारा घिरा हुआ होता है। तब क्या यह सम्भव नहीं है कि रवीन्द्रनाथ के चित्र, जो अपरिचित व्यक्तियों और आकृतियों, जीवों अथवा स्थानों के अनोखे रूप तथा रंग प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं, वास्तव में उनकी महान् व्यापक दृष्टि के एक जाल के समान हैं, जिसमें हमारे चैतन्य के यही तीनों रूप आकर बन्दी हो गये हैं, पकड़ाई दे गये हैं, औचक उलझ गये हैं? हम सभी की तरह कवि भी उन दो तत्त्वों के बने हुए थे, जो कुछ हद तक परम और कुछ हद तक परमोन्मुख विकास को प्राप्त होते हैं। और इसीलिए इन परमोन्मुख किन्तु अविकसित अंत को

निर्वासित करने की, मार्ग देने की, व्यक्त करके बहा देने की जरूरत थी, जिससे परम भागवत चेतना अपने समूचे वैभव को प्रकाशित कर सके। यह केवल भीतर की इच्छाओं का गोपन समाधान-मात्र नहीं है, यह एक सत्य है। हमें मालूम है कि अपनी स्थूल काया के निर्वाण के पूर्व ही कवि 'हड्डियों के समूह' न होकर प्रकाश के जीवन्त पुंज ही थे।

अक्सर हमने कवि को कहते सुना था कि जीवन-भर 'स्कूल-भगोड़े' लड़के की चंचल आत्मा उन्हें छाये रही। पाठशाला से पलायमान् शिशु जैसे अचानक ही कवि बन बैठा। आगे चलकर काव्य के रूप और बन्धन भी उन्हें क्लान्तिकर हो उठे। काव्य की पाठशाला से वे भागने लिए उत्सुक हुए और शिल्पी बन बैठे! वे चिरकाल आत्मा की स्वतन्त्रता के उपासक थे, और यही आत्मिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता की आत्मा है। यही कारण था, जो वे अपने लिए अक्सर कुछ नया काम खोजा करते थे। किसी तरुण साथी ने एक बार उनसे उनकी प्रेरणा के गोपन उत्सव का रहस्य पूछा था। उत्तर में कवि ने उन्हें लिखा था— 'अपने जीवन की सबसे महान् प्रेरणाएँ मुझे या तो अप्रत्याशित भाव से—अचानक आये हुए विस्मयों के भीतर से—मिली हैं, या फिर सृजन-चेष्टा की नाना भंगियों की राह से प्राप्त हुई हैं, जो सदा आत्म-प्रकाश में हमें सहायता पहुँचाया करती हैं।'

अप्रत्याशित विस्मयों ने—जैसे सहसा अपनी पुश्तैनी सम्पत्ति के मैनेजर बनाकर भेज दिया जाना, पत्नी का देहान्त, मँझले बच्चे की अचानक मृत्यु, अध्यापक का काम—प्रतिक्रिया के रूप में असंख्य कहानियों और गीतों तथा मानव-प्रकृति के रहस्योद्घाटन की चेष्टाओं को जन्म दिया। ये सब जैसे तूफ़ान की तरह थे, जो उन्हें उनके प्रकृत कवि-जगत् से दूर बहाकर ले गए। जार्ज हर्बर्ट के शब्दों में कहें, तो — "तूफ़ान ही 'उनके' शिल्पकी जयध्वजा है।"

ऊपर एक साधारण दर्शक की हैसियत से कवि के शिल्प पर कुछ विचार प्रकाशित किये गए हैं। इस निबन्ध को हम रवीन्द्रनाथ के

ही कविता के एक उद्धरण के साथ समाप्त करते हैं :—

"कवि के भीतर के उस चिर-चंचल मनमौजी पर
— जिसे यश की बाग भी वश में नहीं रख पाती—
रेखाओं की लक्ष्मी का कुछ खास दुलार है ;
क्योंकि ख्याति की हाट में अर्जित उसका
गर्वीला नाम अवज्ञा करता है—
शिल्पी की तूली की ;
मुक्त पथपर जाने देता है वह उसे—बन्धनहीन—
—जिस तरह बन्धनहीन होती है
वसन्त की अनोखी रंगसाजी ।"

मरमी सन्त ऐराड्रूज़

शाश्वत सत्य की उपलब्धि के साधारणतः दो रास्ते हैं—रसात्मक अनुभूति और कर्ममय जीवन। जो कलाकार हैं, वे इनमें से प्रथम पथ का अनुसरण करते हैं; बल्कि यों कहा जाय कि उनकी सुगम्भीर प्रेरणा उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। ये लोग मानो अपने गीतों की उन्मुक्त उड़ान से प्रभु के पाद-पंकजों का पुण्य-स्पर्श करते हैं। किन्तु दूसरी कोटि के साधक इस परिचित पृथ्वी में ही भगवान् के दुर्गम अधिवास में प्रवेश करने की बाधाओं को जैसे 'दाहिने हाथ से' अपसृत कर चलते हैं।

किन्तु मरमी सन्त अपने भीतर इन दोनों प्रकार की साधनाओं को आश्रय देते हैं। अपनी दृष्टि द्वारा वे पहले आध्यात्मिक हिमाचल के स्वर्णिम शिखर के दर्शन करते हैं और फिर जीवन के सामान्यतम कार्य को भी उसी उदार आलोक के आनयन का पथ बना लेते हैं। उनका जीवन जैसे एक सुन्दर जल-प्रपात है, जो किसी अदृश्य गिरिचूड़ा से हमारी परिचित उपत्यका में आ गिरता है। दूसरी ओर वह अक्लान्त कर्मी है, जो कर्म से कर्म की ओर बढ़ता जाता है और एक दिन देखता है कि उसके कार्यों की परिचालना किसी अदृष्ट शक्ति के हाथों में चली गई है; वह स्वयं मिट गया है। मशीन का चक्का जिस समय बड़े वेग से घूमता है, उस समय हमारे देखते-ही-देखते दृष्टि से ओझल हो जाता है

दिवंगत चार्ल्स फ्रीअर ऐण्ड्रूज़, जिनकी प्रथम पुण्य-तिथि इसी ५ अप्रैल को पड़ती है, ऐसे ही मरमी भक्त थे। केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय से ग्रेज्युएट होने के बाद जब उन्होंने अध्यात्म-जीवन की दीक्षा लेने का संकल्प किया, तब दीक्षा के समय उनके 'अंतर में एक ऐसा अद्भुत भाव जागा', जिससे उनके संपूर्ण जीवन का ताल-सुर ही बदल गया। उन्होंने शाश्वत प्रभु मसीह के दर्शन किए। उस एक छोटे-से क्षण के भीतर

किसी चिर-वसन्त का सुरभित श्वास था। उस क्षण के भीतर ही मानो प्रभु के अन्दर उन्होंने पुनः जन्म लिया ; उनके पूर्व-जीवन की काया जैसे क्रूस के धनी के उद्दाम प्रेमानल में जलकर भस्म हो गई। वे जैसे रात ही भर में परमपिता के सुविपुल कुटुम्ब के एक साथ ही लाड़ले पुत्र और स्वामि-भक्त किंकर बन गये। इसके बाद उन्हें सदा दीनों के बन्धु और पीड़ितों के आश्रय बने रहना ही भाया।

वर्षों पीछे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और गांधी से उनकी भेंट हुई। इन दोनों के जीवन और कार्यों के भीतर भी ऐण्ड्रूज़ को उन्हीं नित्यकाल के यीशु मसीह के दर्शन हुए, जिनके अगाध प्रेम की उन्होंने दीक्षा पाई थी। कवि के निकट उन्होंने ब्रह्माण्ड की उस आत्मा के दर्शन किए, जो आनन्द से ही निर्मित है; और बापू के संस्रव ने उन्हें इस सत्य का अटल विश्वासी बना दिया की सेवा के भीतर से ही हमें अपने 'अहं' को मिटा देना है, जिससे यह सारा जीवन इसी एक गीत की मुखर प्रतिध्वनि बन जाय—

"जो हाथ कार्य सम्पन्न करता है,
स्वामी, वह मेरा नहीं
तुम्हारा ही दाहिना हाथ है।"

प्रार्थना की महिमा में उनका बड़ा विश्वास था। अपनी जीवन-बाती को वे दोनों ओर से जलाए हुए थे। वे चाहे जितने ही व्यस्त क्यों न हों, प्रभात और रात्रि के समय की स्निग्ध शान्ति का सदा उपयोग करते थे। इन अवसरों पर लेखक उनके मसीह-जैसे सुन्दर मुख को अलौकिक प्रकाश से आलोकित देखकर अवाक् हो गया है। इन क्षणों में उन्हें देखने का अर्थ था—मनुष्य की आत्मा की नित्यता में एक बार फिर से अटल विश्वास जाग्रत हो जाना,—यह जान लेना कि जो जीव में है, वही परम के भीतर भी है। ऐसे व्यक्ति का क्या कभी अवसान हो सकता है ?

ऐण्ड्रूज : वर्त्तमान युग के संत फ्रांसिस

प्लेटफार्म पर विचित्र और अस्तव्यस्त भीड़ की ठेलमठेल है। लोग गाड़ी में चढ़ने के लिये धक्का-मुक्की कर रहे हैं। कुछ ही मिनटों में गार्ड साहब ने हरी झण्डी दिखला दी और इञ्जन ने सीटी दी। देरी से आया हुआ एक यात्री किसी तरह डिब्बे के पायदान तक जा पहुँचा है; डिब्बा दूसरे दर्जे का है। भीतर के श्वेतांग यात्रियों में से एक के भीतर का वर्णाभिमान जाग उठा। उसने अपना क्रोध से रक्ताभ मुँह फिराकर काले आदमी के सामने ही बलपूर्वक दरवाजा चपेट दिया और कहा—'गेट आउट यू निगर!' गाड़ी के काले-गोरे मुसाफिरों ने इसे देखा और सारे अपमान की पीड़ा को चुपचाप पी गये। उस योद्धा के इस युक्तिहीन दुर्व्यवहार की अमानुषिकता के खिलाफ़ किसी ने चूँ तक नहीं की। लेकिन डिब्बे में एक तरुण अंग्रेज मिशनरी भी था, जो अभी ताजा ही विलायत से आया था। केम्ब्रिज से डिग्री लेकर वह देश की चिर-पुरानी राजधानी दिल्ली के एक कालेज में अध्यापक का काम करने जा रहा था। ईसा के धर्म पर विश्वास था और उनके 'सबके लिए प्रेम और किसी के लिए भी वैर नहीं' वाले सन्देश पर उसे श्रद्धा थी। इस घटना ने उसी श्रद्धा और विश्वास पर बुरी तरह आघात किया। अपने ही देशवासी का यह अहङ्कार उसके मर्म को छू गया। उसी क्षण के भीतर ही उसने सम्पूर्ण जीवन के लिये एक संकल्प लिया कि वह आजीवन इस अमानुषिक वर्ण-बाधा के विरुद्ध धर्मयुद्ध करता रहेगा। मानवीय समानाधिकार का यह भक्त और कोई नहीं, चार्ल्स ऐण्ड्रूज ही थे, जिनकी तीसरी पुण्यतिथि ५ अप्रैल, १९४३ को पड़ रही है।

ऐन्ड्रूज देश और देशान्तर में चिर-जीवन इसी एक उद्देश्य की साधना करते रहे—जातिगत श्रेष्ठता के अहङ्कार को मिटा देना। यह अहङ्कार कुछ दिनों पूर्व और पश्चिम दोनों जगह मनुष्यों के लिये अशोभन और लज्जाजनक हो गया था। कभी मञ्च पर से, कभी प्रेस के कालमों से और जीवन के दृष्टांत से बीसियों बार ऐन्ड्रूज ने धन के दम्भी, शक्ति-

नाद से अंधे लोगों के निकट अपना आवेदन जनाया—दक्षिण-अफ्रीका में, फिजी-द्वीप में, ब्रिटिश-गायना में, आस्ट्रेलिया में और दुनिया के किस हिस्से में नहीं—कि वे पग-पग पर आज प्रभु ईसा को क्रूस पर टाँग रहे हैं, जब कि पग-पग पर वे उनके उपदेशों के उस मूल सत्य पर कठोर आघात कर रहे हैं, जिसमें कहा गया है—'प्रेम करो, परस्पर प्रेम करो।' और इसके उत्तर में जब वे देखते कि भरी हुई जेबों में अपने हाथ डाल कर, बैंक की बढ़ती हुई बाक़ी पर अपनी अपलक दृष्टि जमाए इन संपत्ति-शालियों ने प्रभु के संदेश का अर्थ केवल श्वेतांग ईसाइयों के साथ ही भाईचारा जोड़ना समझा है, तब ऐण्ड्रूज़ की अकपट आत्मा सात्विक क्रोध से उद्दीप्त हो उठती और उनकी वाणी से जैसे बाइबिल की वाणी बोल उठती—'भ्रम में न रहना, भगवान् के साथ तमाशा नहीं किया जा सकता!'

ऐण्ड्रूज़ मनुष्य को मनुष्य के नाते ही पहचानते और श्रद्धा करते थे, फिर वह मनुष्य पूरब का हो या पच्छिम का, उत्तर का हो या दक्खिन का। और इसी जीवन्त श्रद्धा तथा मानवीय गौरव के प्रति सम्मान की धारणा ने उन्हें एक ओर कवि रवीन्द्रनाथ का, तो दूसरी ओर महात्मा गांधी का घनिष्ठ बन्धु बना दिया था। उनके अन्तर में प्रभु यीशु की उस सत्य और जीवित आत्मा का निवास था, जो शास्त्रों के वचन अथवा परम्परा की उक्ति में अटकी नहीं रहती। इस मूर्ति ने गांधी तथा गुरुदेव के आदर्शों के निकट जीवन-व्यापी सेवा तथा निष्ठा के भीतर से अपने को प्रकाशित किया। कवि के शांतिनिकेतन में स्थित विश्वभारती के स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने जैसा अक्लांत श्रम किया, वैसा ही गांधी के अनुगत होकर 'दीन-हीनों और खोए हुओं की सेवा के लिए भी। काव्य-दर्शन तथा अध्यात्म के प्रति उनका जैसा प्रबल आकर्षण था, लांछित और उत्पीड़ित मानव-समाज के दुख को कम करने के लिए भी वैसा ही था। किन्तु पहले की अपेक्षा दूसरे का पलड़ा अकसर ही भारी पड़ जाया [illegible] था। [illegible] ऐण्ड्रूज़ भी कह सकते थे—'[illegible] नहीं हैं; वे पड़ोसियों से सदा

घिरे हुए हैं।' और इसी से अपने आराध्य देवता—यीशु ख्रीष्ट—के समान वे लोक-मङ्गल के लिये सदा गृहत्यागी बने रहे।

इस छोटे-से स्केच के लेखक को अपने जीवन में एक बार ऐण्ड्रूज़ के निजी सहायक की हैसियत से उनकी सेवा करने का गौरव और आनन्द प्राप्त हुआ था। इस तरह वह विशेष भाव से उनके निकट संस्पर्श में आया। उसने कभी तो ऐण्ड्रूज़ को कार्य में डूबा हुआ पाया, तो कभी उपासना में। कभी देखा, वे अनन्त आकाश को कवि की दृष्टि के जाल में बाँध रहे हैं, तो कभी पाया, उनका मन अनन्त विश्व के भीतर छिपे हुए आध्यात्मिक नियम का अनुगामी हो रहा है। फिर देखा, ऐण्ड्रूज़ स्टेशन की तरफ भागे जा रहे हैं—पहली गाड़ी पकड़ने—कोई बन्धु मृत्युशय्या पर अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। अभी डेस्क पर झुके हुए किसी जरूरी चिट्ठी अथवा लेख में डूबे हुए हैं, तो अभी उठकर रसोईघर की तरफ़ जा रहे हैं—किसी हड्डियों के ढाँचे-जैसे भिखारी की भूख शांत करने। और अन्त में फिर उसी दुरूह अनिवार्य चक्र के उसी विश्राम-स्थल पर आ पहुँचते हैं—वही भूख, वही दुर्भिक्ष, वही संघर्ष। इन पंक्तियों के लेखक को उनकी इन्हीं 'कृतियों द्वारा प्राणों की प्रेरणा' मिलती थी। किन्तु उसका खयाल है कि अनेक अवसरों पर यदि कोई ऐण्ड्रूज़ से पूछता कि उन्हें सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु जीवन में कौन-सी मालूम हुई, तो वे एडविन मार्खेम के शब्दों में बिना विचारे उत्तर देते—"कैण्टका कहना था—'दो चीजें मुझे आतंक और आश्चर्य से भर देती हैं : ताराओं से भरा हुआ आसमान और विश्व का नैतिक नियम।' किन्तु मैं एक और वस्तु जानता हूँ, जो इनसे कहीं भीषण और अख्यात है : लूटे-खसोटे हुये गरीबों का सुदीर्घ—सुदीर्घ धैर्य।"

शायद यही कारण है, जो जीवन के सबसे बड़े शिल्पी महात्मा गांधी ने चार्ल्स ऐण्ड्रूज़ को 'दीनबन्धु' कहकर पुकारा था, जिस पुण्य नाम को देश की कृतज्ञ जनता ने अनायास ही स्वीकार कर लिया और जिससे उन्हें चिरकाल के लिए वरण किया।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के संस्मरण

जब मैं दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के कुछ संस्मरण लिखने बैठा, तब सचमुच कुछ सूझ नहीं पड़ा; कारण कि उनके प्रेम और आदर्शों का प्रभाव मुझ पर इतना गहरा पड़ा है कि उसे अलग करके उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं को पंक्तिबद्ध करना कठिन मालूम होता है। तब भी जो दो-चार स्मृतियाँ इस समय याद आ रही हैं, उन्हें ही यहाँ लिखे देता हूँ।

दीनबन्धु के जीवन को परिचालित करनेवाला आदर्श क्या था, सो बहुत वर्ष हुए उनकी मेज़ पर सूत्ररूप में लिखे हुए एक लैटिन वाक्य को पढ़कर मैंने जाना। उसका अर्थ पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वाक्य का आशय है—'तुमने अधिक क्या किया?' वह अकसर कहा करते थे कि हम लोग अपने धर्म और कर्तव्य मात्र को जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं; उससे अधिक उदार होने की कोई ज़रूरत नहीं समझते। मानो मनुष्य की आत्मा सीमित वस्तु है। यदि आदमी सिर्फ़ उतना ही करे, जितना उसे करना है, अथवा जितने की उससे माँग है, तो इस कर्तव्यपालन में बनियागीरी की गन्ध आती है। सम्भवतः महात्मा क्राइस्ट के मन में भी कुछ ऐसा ही विचार था, जब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि यदि कोई ग़रीब तुमसे तुम्हारा कोट माँगे, तब उसे सिर्फ़ कोट देकर ही मत सन्तुष्ट हो रहो; अपनी कमीज़ भी उतार कर दे दो।

जब मैं दीनबन्धु का सेक्रेटरी था, तब मैंने प्रत्यक्ष देखा था कि यदि अपनी आवश्यकता के लिए किसी ने कभी उनसे एक रुपये की माँग की, तो वे उसे पाँच से कम नहीं देते थे। शान्तिनिकेतन में मैंने देखा था कि किसी फ़क़ीर के धोती माँगने पर उन्होंने सदा धोती के साथ कुर्ता भी उतारकर दिया है।

इसी प्रकार उदार प्रेम का बर्ताव वे उनके साथ भी करते थे जिन्हें समाज घृणा और लांछना की दृष्टि से देखता है। भारत आने के पूर्व दीनबन्धु लन्दन शहर के उस भाग में निवास करते थे, जहाँ परले दर्जे के

शराबी और जुआरी रहा करते हैं। उनके बीच रहते हुए उनकी सेवा करने में उन्हें असीम आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता था। उन लोगों में एक ऐसा व्यक्ति भी था, जो शराब पीकर दंगा-फ़साद करने तथा नीच कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण कई दफ़ा जेल भुगत आया था। हर बार उसके जेल से लौटने पर दीनबन्धु उससे बड़े प्रेम से मिलते और उसके कल्याण के निमित्त प्रभु से प्रार्थना किया करते थे। एक दिन उसने चिढ़कर कहा—"आप मेरे पीछे क्यों पड़े हैं? आप मुझे पक्का ईसाई बनाना चाहते हैं; लेकिन मैं आपसे साफ़-साफ़ कह देना चाहता हूँ कि आपके भगवान् और ईसामसीह में मुझे रत्तीभर भी विश्वास नहीं है।" दीनबन्धु ने उसे आलिंगन करके कहा—"भाई, भगवान् तो तुम पर विश्वास करते हैं; वे तो तुमसे बराबर स्नेह करते हैं।" इन शब्दों का प्रभाव उस आदमी पर लगभग जादू-जैसा हुआ। उसी दिन से उसका जीवन ही बिलकुल बदल गया। लोग हैरान थे कि आख़िर वह आदमी सहसा क्यों इस क़दर बदल गया। उससे पूछा जाता, "भाई साहब, आज-कल आपका व्यवहार ऐसा ममतामय और वृत्ति ऐसी शान्त क्यों हो गई है?" वह उत्तर देता "जानते नहीं? भगवान् मुझ से प्रेम के कुछ योग्य बनना होगा?" कुछ दिनों बाद वह आदमी अफ्रीका चला गया और वहाँ पादरी की हैसियत से बहुत वर्षों तक लोगों की सेवा करता रहा।

कराची में एक बार एक अंग्रेज़ अपनी पत्नी और चार वर्ष की बच्ची को लेकर दीनबन्धु से मिलने आये। संध्या समय जब हम लोग समुद्र-तट पर टहल रहे थे, दीनबन्धु ने उनसे बातचीत की। जब वे विदा होने लगे, तब उनकी छोटी बालिका दीनबन्धु की ओर ताककर बोल उठी—"Mummy! He is Jesus!" (माँ, यह तो ईसामसीह हैं!) दीनबन्धु की आँखों में आँसू उमड़ पड़े। उन्होंने बालिका को अंक में समेटकर अपनी दिव्य शान्ति से उसका मस्तक चूम लिया।

उनकी कराची-यात्रा की और भी दो-एक बातें याद आ रही हैं। एक दिन एक युवक ने उनसे प्रश्न किया—"एण्ड्रूज़ साहब, ईश्वर कहाँ है?"

दीनबन्धु ने उससे हँसकर कहा,—"मैं तुम्हें शाम को ईश्वर के पास ले चलूँगा।" शाम हुई और युवक उत्सुकतापूर्वक आकर उपस्थित हो गया। दीनबन्धु ने मुझ से कहा कि नगर के उस भाग में चलो, जहाँ अन्त्यजों की बस्ती है। हम तीनों एक बूढ़े भंगी के द्वार पर जा खड़े हुए। झोपड़ी में दस वर्ष का एक मातृहीन, दादी-विहीन बालक तपेदिक से बीमार पड़ा था और बूढ़ा उसी की सेवा में जुटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करके दीनबन्धु ने युवक से कहा—"देखो, यही भगवान् है।" नवयुवक स्तब्ध रह गया। इस बात का उस पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उसने व्यापार में दाखिल होकर धनोपार्जन करने का अपना इरादा छोड़ दिया और अन्त में सम्पूर्ण जीवन समाज के दीन-दुखियों की सेवा में ही गुज़ार दिया। दुःख की बात है कि वह अधिक दिन जीवित नहीं रहा। उपर्युक्त घटना के प्रायः ७ वर्ष बाद ही वह इस दुनिया से चला गया।

दूसरी बात जो मुझे याद पड़ती है, दीनबन्धु के, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ, कराची-प्रवास के सिलसिले की है। बात ऐसी तय हुई थी कि दीनबन्धु जहाज़ से गुरुदेव के साथ पोरबन्दर जायेंगे। दोनों यात्रा के लिए प्रस्तुत होकर जहाज पर चढ़े। लेकिन जब जहाज के छूटने में केवल १० मिनट ही थे, तब दीनबन्धु सहसा कह उठे—"गुरुदेव, मुझे क्षमा कीजिए; मैं आपके साथ पोरबन्दर न जा सकूँगा। मैंने अभी अखबार में पढ़ा है कि दक्षिण-अफ्रीका से तीन-चार सौ भारतीय दो दिन बाद कलकत्ते पहुँचनेवाले हैं। उन बेचारों का वहाँ क्या हाल होगा—सोचना कठिन है। वे तो किसी को नहीं जानते-पहचानते! कहाँ रहेंगे, क्या खायेंगे? यह सब विचार कर मैंने तय किया है कि यहाँ से सीधे कलकत्ते चला जाऊँ।" गुरुदेव ने मुग्धचित्त से खुशी-खुशी उन्हें जाने की आज्ञा दे दी और अपना आशीर्वाद भी दिया।

शान्तिनिकेतन में एक बार दीनबन्धु से एक ईसाई प्रोफेसर मिले और तीन दिन उनके साथ रहे। रविवार के दिन प्रातःकाल प्रोफेसर साहब ने किंचित् दया के साथ कहा—"बन्धु, यहाँ तुम रविवार की साप्ताहिक

उपासना न कर पाने के कारण बड़े दुःखी रहते होंगे। कारण, यहाँ गिरजा तो नहीं है।" दीनबन्धु मौन ही रहे। ठीक उसी क्षण आश्रम के दसवीं कक्षा के कुछ विद्यार्थी अपनी क्लास का समय पास जानकर द्वार पर आ खड़े हुए। दीनबन्धु ने उन सबकी तरफ हाथ से दिखलाते हुए अपने मित्र से कहा—"प्रिय बन्धु, दैनिक कहो अथवा साप्ताहिक, मेरी उपासना यही है।"

दीनबन्धु की एक मूर्ति सदा मेरे अन्तर में निवास करती है। वह है उनकी शान्तिमयी, स्नेहमयी मूर्ति; उनके मुख की वह स्थिर-धीर करुणोज्ज्वल शोभा, जो प्रार्थना के समय कितने ही प्रभात और संध्या के आलोक में मैंने देखी है। शान्तिनिकेतन के उस स्थान में, जहाँ भोर की उपासना के बाद वे टहला करते थे, जब आज भी मैं टहलने जाता हूँ, तो उनकी वही चिर-प्रशान्त मूर्ति मेरी आँखों के आगे आ जाती है। कई बार तो ऐसा लगता है, मानो वे स्वयं ही वहाँ उपस्थित हैं और मेरे कन्धे पर सदा की भाँति हाथ रखकर पूछ रहे हैं—"गुरुदयाल, तुमने ज्यादा क्या किया ?" मैं क्या उत्तर दूँ ? आँखें हठात् भर आती हैं और तब मन को स्थिर करने के लिए मैं नीचे की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगता हूँ, जो मैंने आज से कई वर्ष पूर्व लिखी थीं :—

आज प्रभात में कौन आया ?
रात अबही खतम हुई थी,
किसी ने आ दर खटखटाया।
पूछा तब मैंने अन्दर से,
कौन मेरे घर को आया ?
'मैं हूँ'—दिया जवाब उसने—
'तेरा मेहमान होके आया।'
'क्या करोगे मेरी खातिर ?'
यह कह के उसने मुझे शर्माया।

सम्प्रदायों की एकता और 'दीनबन्धु'

ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाईबिल में प्रभु यीशु का एक वाक्य है, जिसका अर्थ ऐसा किया जा सकता है कि 'सब नियमों की सफलता प्रेम में ही पूर्ण रूप से होती है।' इस वाक्य का प्रभाव दीनबन्धु ऐण्ड्र्ज़ के, जिनकी पहले वर्ष की मृत्युतिथि ५वीं अप्रैल (१९४१) को पड़ती है, जीवन भर की सामाजिक सेवाओं पर बहुत ही गहरा था। इसलिये जब कभी कोई ऐसा मामला उठ खड़ा होता और किन्हीं दो व्यक्तियों या किन्हीं दो सम्प्रदायों या दलों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न उन्हें करना होता, तो वे नियमों से भी ऊपर प्रेम को स्थान देते थे। वे सामाजिक रीति-नीति या राजनैतिक विचारों या सरकार का लाल फ़ीते से घिरा दफ्तर, इन सबों को सहज में पार करके हम सभी में जो एक ही मानवता का कोमल स्थान रहता है, उसी को बारम्बार स्पर्श करने की चेष्टा किया करते थे। ऐसा करते समय उन्हें अपनी व्यक्तिगत दीनता कुछ भी नहीं मालूम देती थी और सरकारी हाकिमों और अफ़सरों के पास दौड़ते-दौड़ते उन्हें जो कष्ट होता था, उनकी भी वे परवाह नहीं करते थे।

मुझे याद है कि पञ्जाब में मार्शल लॉ के बाद जब उन्हें वहाँ जाने की इजाज़त मिली (१९१९), तब कई दफ़ा उन्होंने सरकारी अफ़सरों को, जो न्यायप्रियता दिखाने के लिये या फिर अपने किसी बन्धु को या सहकर्मी को बचाने के स्वार्थ में संकोच करने के साथ कहते···'हमें सरकारी नियम ऐसा करने से मना करता है' तब दीनबन्धु उठकर खड़े हो जाते और उसके कंधे पर प्रेम से हाथ रखकर हाथों में एक विचित्र ज्योति भर कर कहते—But my friend, love is Greater then all your laws...(पर मेरे मित्र तुम्हारे सब नियमों से भी बड़ा प्रेम है)। ऐसा कहने के बाद मैंने अनुभव किया है कि ज्यों ही उस अफ़सर ने यह शब्द सुने हैं, त्यों ही वह उग्र की जगह शान्त-स्थिर हो गया है और चुपचाप दोनों हाथों से अपनी भुजाओं को जकड़ कर कुर्सी में ढीला हो गया है और कह उठा है—All right Mr. Andrews, what you want will be done. I shall send a note to the proper

party. (अच्छी बात है मि० ऐण्ड्रूज़, जो आप चाहते हैं वैसा ही किया जायेगा और जिसका इस मामले से सम्बन्ध है, उसे मैं एक पत्र भेज देता हूँ) । लेकिन दुःख की बात तो यह हुआ करती कि जहाँ बड़े अफ़सर राज़ी हो जाते, वहाँ उनके मातहत अफ़सर और भी अकड़ बैठते और यही कारण था कि कई दफ़ा दीनबन्धु की कोशिशें जितनी जल्दी और जिस तरह सफल होनी चाहिये थीं, न होती थीं ।

हिन्दू-मुसलमानों की एकता के सवाल पर उन्होंने कभी ख़ास मौक़े पर कुछ कहा हो, ऐसा अभी याद नहीं आ रहा है । लेकिन उनके एक दो इशारों से जो मुझे अभी याद हैं, उनके मन के रुख को समझा जा सकता है । एक दिन मैंने निराश होकर उनसे कहा था—"हिन्दू-मुसलमानों के वैर-भाव की खाई दिन-ब-दिन गहरी होती जा रही है और सरकार इसी बहाने उधर इस मौक़े से लाभ उठाते हुए कहती जा रही है कि जब तक ऐक्य न होगा, तब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा ।" उन्होंने उस समय कहा था कि "But my dear friend, freedom is the soul's birth-right and it is far greater than Hindu-Muslim unity. What the soul demands no power on earth could ever resist for long. For the soul is of God. (आज़ादी आत्मा का अधिकार है और हिन्दू-मुस्लिम एकता से बड़ी चीज़ है । और जो कुछ आत्मा माँगती है, उसे दुनिया की कोई शक्ति नहीं, जो उसका देर तक मुक़ाबला कर सके । क्योंकि आत्मा भगवान् का अंश है) ।

आत्मा से उनका क्या मतलब था और हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध पर कैसे और क्या असर पड़ेगा, वह उन्होंने साफ़ करके मुझे नहीं बतलाया । लेकिन उस दिन रात को लाहौर का ट्रिब्यून पढ़ते हुए उन्होंने ख़ुदाई ख़िदमतगारों के विषय में कुछ पढ़ा । पढ़ने के बाद मुझे देते हुए बोले That is the way, (यही वह रास्ता है) । ख़ुदाई ख़िदमतगारों के विषय में पढ़ो । पढ़ने के बाद मुझे मालूम हुआ है कि वे

यह मानते हैं कि हिन्दू और मुसलमान सीटों के लिये लड़ने की अपेक्षा .खुदाई ख़िदमतगारों की तरह मिलकर प्रेम से एक दूसरे की सेवा करें। यदि वे एक हों, तब तो स्वराज्य आज ही मिल जायेगा। यही कारण था कि गांधी जी के सत्याग्रही-संघ और .खुदाई ख़िदमतगार तथा चीन में जो New life movement (नवजीवन-आन्दोलन) के लिये उनके दिल में सच्ची श्रद्धा और गहरी हमदर्दी थी।

एक और इशारा मैंने उस समय पाया, जबकि वे दिल्ली के मुंशी ज़काउल्ला साहब का ज़िक्र कर रहे थे। ग़दर के दिनों में मुंशी जी को एक अंग्रेज़ ने अपने घर में छिपा कर उनका प्राण बचाया था। और तब से मुंशी जी इस जीवन-रक्षा के लिये विक्टोरिया रानी तथा उनके राज्य का गुण-गान किया करते थे। दीनबन्धु ने कहा कि "यदि हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े के समय स्व० गणेशशङ्कर विद्यार्थी की तरह प्राण दे देने वाले भाव सबके दिल में आ जायें, तब वे सब अपने धर्मों की सच्ची सेवा कर सकते हैं और अपने धर्म की भी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि कोई भी धर्म किसी से दुश्मनी नहीं करता।

दीनबन्धु के लिये देश या धर्म से बड़ा मनुष्य था और उनका पूरा विश्वास था कि मानव प्रभु की ही एक मूर्ति है (Man is made in the image of God)। और जैसे प्रभु को पाने का प्रेम ही एक सच्चा रास्ता है, उसी तरह मानव-मानव के द्वेष को दूर करने का प्रेम ही एक रास्ता है।

पर हम में से प्रेम करना जानते हो कितने हैं? हमारे तो प्रत्येक कार्य में स्वार्थ का एक बड़ा हिस्सा भरा रहता है। और ज्ञान द्वारा अद्वैत भाव कभी उत्पन्न हो भी जाये; लेकिन वह सहज कभी नहीं होता। लोग अमृत की तलाश में फिरते हैं। लेकिन अमृत से बड़ी वस्तु प्रेम है, इस ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं! एक सूफ़ी ने ठीक ही कहा है—
"जिन प्रेम रस चाखया नहीं, उन अमृत पिया तो क्या हुआ।"

स्व० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति श्रद्धाञ्जलि

कलागुरु श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर सचमुच एक उच्चकोटि के गुरु थे। उन्होंने न केवल कलासंबंधी उस अज्ञान को जो इस शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे देश में फैला हुआ था, अपनी कृतियों के उज्ज्वल प्रकाश से दूर किया, बल्कि भारतीय कला की ज्योति को लगभग तीस-चालीस वर्ष तक जलता रखा, उसका समस्त उत्तरदायित्व सँभाला। इस ध्येय को सामने रख कर उन्होंने कई कलाकारों को कला का मर्म सिखाया, जिसके फलस्वरूप आज बहुसंख्यक भारतीय हिम-पर्वत और ताजमहल के स्वर्गीय सौंदर्य की अपने हृदय से आराधना कर सकते हैं,—हाँ, हृदय से आराधना, केवल दिमाग और पैसे से नहीं, जैसे अब भी असंख्य लोग करते हैं।

किसी दार्शनिक ने कला की व्याख्या इस प्रकार की है—प्रकृति + मनुष्य = कला। इस व्याख्या का प्रतिबिम्ब अवनी बाबू के चित्रों में स्पष्ट दिखाई देता है। उनका विश्वास था कि प्रकृति में, जो प्रभु की चेतना का एक स्वरूप है, प्रत्येक सर्जित वस्तु का सम्पूर्ण रूप और रंग पाया जाता है; इसलिए कलाकार का पहला धर्म है इस संपूर्ण रूप और रंग को अपने आन्तरिक चक्षुओं से देखना। उसके बाद इस सम्पूर्णता की जो झलक उसे मिली हो उसे अपनी कृति में अपनी पींछी ? (मोर-पंख) के जादू की सहायता से उतारना हूबहू ऐसे नहीं जैसे कि वह वस्तु प्रकृति के अजायबघर में पायी जाती है, अपितु उस तरह जैसे कि उसकी आत्मा ने (जो परमात्मा का एक अंश है) अपने प्रकाश में उसे देखा है। यही कारण है कि कला को आत्मा, आत्मा की कला है। इसीलिए तो कला प्रकृति और मनुष्य के संगम का परिणाम है।

किंतु अवनी बाबू केवल Pan (प्रकृति के देवता) ही नहीं थे अपितु

Puck (आनंद के अवतार) भी थे, क्योंकि जिस किसी ने भी उन्हें बच्चों को कहानी सुनाते देखा है, अथवा उनके लिए लिखी हुई कहानियों को पढ़ा है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि अवनी बाबू की आँखों में देवताओं के हास्य का प्रकाश सदा चमकता रहता था। जीवन में इतना दुःख होने पर भी उनकी आँखें कभी इस आनंदमय जगत् के आलोक से वंचित नहीं रहीं। कला की दूसरी व्याख्या है प्रभु की सृष्टि को देख कर प्रसन्न होना और हँसना। अवनीन्द्र स्वयं हँसना जानते थे और दूसरों को भी हँसाना जानते थे।

यदि ईश्वर का एक स्वरूप आनंद है—जैसा कि ऋषिमुनियों ने हमें सिखाया है, तो अवनी बाबू अब उस आनंद में मिल गए हैं। इसलिए कला में जो कोई आनंद का अनुभव करेगा उसे केवल आनंदमय प्रभु का ही नहीं, अपितु अवनी बाबू का भी आशीर्वाद मिलेगा। अपनी कला की कीमिया द्वारा सचमुच अवनी बाबू अमर हो गये हैं, उनकी अमर आत्मा को सप्रेम और सादर प्रणाम!

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

इस सृष्टि में जो कुछ सुन्दर है, अनवद्य है, अपूर्व है, उसके उपासकों में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का स्मरण सबसे पहले आता है। पिछली १६वीं अगस्त (१६४८) को उन्होंने अपने जीवन के ७६वें वर्ष में प्रवेश किया है। उनके छन्दोमय अन्तर में उस शाश्वत बालक का निवास है, जो इन्द्रधनुष की रंजित शोभा के असंख्य बुलबुले आसमान में उड़ाता रहता है, जिसके कौतुक की रंगीनी, आनन्द की छलकन कभी थकना नहीं जानती। इसी से बुढ़ापे की मायूसी, श्रान्ति और उदासी, दृष्टि-शक्ति की कमज़ोरी और कर्म-शक्ति का उतार—इस सबको व्यर्थ करके उनकी सृजन-शक्ति आज भी चुप नहीं बैठ पाती। हाल ही में शान्तिनिकेतन के कला-भवन से निकलनेवाली एक हस्तलिखित पत्रिका में उन्होंने लिखा था—"दृष्टि-शक्ति की सीमा कौन निर्धारित करेगा? अभिव्यंजना का आवेग कभी चुक भी पाया है? मैं रात-दिन अपनी दोनों आँखें खोले इस सृष्टि को निहारा करता हूँ और मेरा अचरज कभी समाप्त नहीं होते!"

यह जो नई सृष्टि रचने या पुरानी चीज़ों को नये सिरे से गढ़ने की भावना है, नवीन से नवीनतर का आविष्कार है, इसी ने उन्हें आज से प्रायः अर्द्ध-शताब्दी पहले सम्पूर्णतया पश्चिमी रीति, भंगी, दृष्टिकोण और अभिरुचि का सरल पथ छोड़ने की प्रेरणा दी और कहा कि तुम उस दुनिया में आओ, जहाँ देश का शिल्प देश ही के मर्म से उगता है; जहाँ देश के संस्कार, इतिहास और स्मृति से वह उसी तरह बरबस आविर्भूत होता है, जैसे धरती की छाती से अंकुर। जीवन-यात्रा में संचित किये हुए अपने भावों को अवनीन्द्रनाथ ने इसी रंग में रँग डाला; किन्तु उन दिनों कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे प्रतिभासम्पन्न कुछ बिरलों ने ही यह समझा कि आसपास की रूढ़ियों के बन्धनों को तोड़-फोड़ डालने के

लिए बेचैन इस तरुण शिल्पी के मन में अपनी ही मौलिक प्रेरणा जाग उठी है, अन्तर्देवता का आदेश गूँज उठा है; और इस महादेश की यह आकांक्षा भी बोल रही है कि अपने भावी भाग्य का निर्माण यह देश अब स्वयं ही करेगा। इतिहास साक्षी है कि स्रष्टा और शिल्पी ही पहले देश में नये प्राण फूँकते हैं—राजनीतिज्ञ नहीं।

शिल्प के क्षेत्र में बंगाल का नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का विकास साथ-ही-साथ चले। यह सिर्फ प्रसंगवश ही हो सकता है; और हुआ यही। किस जागरण ने किसे प्रभावित किया, कौन किसका पुरोगामी था, यह बात विवादग्रस्त हो सकती है। चाहे जो हो, इतनी बात निश्चित् है कि अवनीन्द्रनाथ को अपने संवेदन के अनुसार सृष्टि करने की जो मुक्ति मिली, उसने भारतवर्ष के नवजन्म-लाभ का प्रशस्त पथ खोल दिया। शिल्पमय भारत के स्रष्टा अवनीन्द्रनाथ ही हैं।

कहते हैं शिल्प में देशवासियों की खोई और भूली, कुंठिता और उपेक्षिता महत्त्वाकांक्षाएँ व्यक्त होती हैं। शिल्पी इसीलिए वह दुभाषिया है, जो उन गोपन स्वप्नों को वाणी दान करता है। राह-चलता आदमी भी अपने अन्तरतम में ऐसे उदात्त स्वप्नों को सहेजे रहता है; किन्तु स्वयं उनके अस्तित्व को नहीं जानता। कभी उनकी झलक पा भी ले, तो वह चिरस्थायी नहीं होती इन सब सपनों में सौन्दर्य और विस्मय की अनुभूति ही शायद सबसे अधिक प्रबल होती है। जिसे लेकर छोटा-सा बच्चा भी, कविगुरु रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, "जगत् के मर्म में परिव्याप्त रहस्य के खज़ाने में प्रवेश करने का अधिकार पाता है।" यह अनुभूति स्वतःस्फूर्त्त होती है, खुद-बखुद जी में जाग उठती है। इसी से अवनीन्द्र-नाथ ने हमें पुकारा : आओ, सृष्टि को प्रेम की आँखों से—मुहब्बत की नज़र से देखो। सिर्फ़ प्रेमी में ही वह ताक़त होती है, जिससे मामूली झोंपड़ी के पीछे वह राजमहल की समृद्धि देख सकता है, साधारण दासी के अन्तर में विद्यमान राजरानी के दर्शन करता है, अन्त्यज के मर्म में अवनीपति का साक्षात्कार कर सकता है, रास्ते की धूलि के कणों में

भगवान् के मंगल-पुष्प का पराग उपलब्ध कर पाता है। शिल्पी ऐसा ही परम प्रेमी है।

अवनीन्द्रनाथ की देन—उनका सन्देश क्या है? अपने चित्रों द्वारा उन्होंने प्रकृति और मानव की दुनिया का चिरन्तन सौन्दर्यमात्र ही नहीं दिखाया, भारतवर्ष के मृत्युहीन अतीत और अमरतर भविष्य की ओर भी अंगुलि-निर्देश किया। देश के जीवन पर तो इसका बहुविध प्रभाव पड़ा ही, सबसे अधिक प्राण देश के उस सुशिक्षित तरुण-सम्प्रदाय ने पाये, जिसने यह भुला ही दिया था कि हमारे मुल्क के पास अपनी ही एक मूल्यवान तहज़ीब की विरासत है, संस्कृति की संचित निधि है, जो अन्य किसी देश से श्रेष्ठतर न भी हो, तो कमतर भी नहीं।

इस प्रकार अवनीन्द्रनाथ ने देश के सच्चे प्रेमी के रूप में अपना परिचय दिया। देश प्रेम का सोमरस उन्होंने आकंठ पान किया था और उनकी तूलिका की उदारता ने मानव-मात्र के मंगल को अभिव्यंजित करने का संकल्प किया था। यही स्वाभाविक भी था। शिल्पी का शिल्प किसी स्वागत और स्वीकृति की भावना पर ही तो खड़ा होगा, निषेध और वर्जन पर नहीं। इसी से उनका देश-प्रेम मानव-प्रेम का परिपंथी नहीं, प्रतीक है। चण्डीदास का वह वाक्य कि 'सबार उपर मानुष सत्य' अवनीन्द्रनाथ का जीवन-सिद्धान्त है।

बहुत दिनों पूर्व कवयित्री सरोजिनी नायडू ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ के जन्म-दिवस पर जो कविता लिखी थी, आज शिल्पीगुरु अवनीन्द्रनाथ की जयन्ती के समय हम उसे ही दुहराये देते हैं—"आज सारे विश्व का आनन्द मेरे आनन्द में बोल रहा है। तुम्हारी प्रतिभा का प्रदीप हमारे बीच आज भी उज्ज्वल है; आज भी वह सदा की तरह आसपास के विश्वव्यापी अन्धकार को भेदकर अपनी आभा का संदेसा 'उस पार' तक भेज रहा है। हमारी चिरसंचित प्रार्थना यही है कि तुम्हारे पतले और पुराने हाथों में सौन्दर्य का वह आलोक सुदीर्घ काल तक सुशोभित रहे, जिससे संसार आनन्द और आवेग दोनों का वरदान पाता है!"

शिल्पीगुरु अवनीन्द्रनाथ

रविवार का सुरम्य प्रभात था। शान्तिनिकेतन के दो तरुण अभ्यागतों के साथ मैं चला जा रहा था। हमारे चारों ओर गम्भीरता और स्नेहमय संस्मरणों का वातावरण छाया हुआ था। हम लोग कविगुरु रवीन्द्रनाथ के निवास-गृह की ओर कदम बढ़ा रहे थे, जहाँ पर पिछले दिनों में, विश्व के भौतिक तत्त्वों में विलीन होने से पूर्व, वे रहा करते थे।

ठीक इसी समय एक इकतल्ले भवन के बरामदे से शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलते हुए उज्जवल-धवल वस्त्रधारी एक परिचारक ने आकर मुझे सूचित किया—"दादा आपको याद करते हैं।" मैं जरा विस्मित होता हुआ उसके पीछे-पीछे हो लिया और सोचने लगा कि यात्रा की परिसमाप्ति पर क्या पाऊँगा?

पनही उतारकर, नम्रता के साथ भवन में प्रविष्ट होते ही उन्होंने अपनी निर्दोष और शरारतभरी आँखों से मेरी ओर ताका तथा अपनी नई रजतशुभ्र दाढ़ी पर हलके हाथ फेरते हुए पूछा—"किस तरफ, भाईजान?"

ससंभ्रम मैंने उत्तर दिया—"कविऋषि के तीर्थ गृह की ओर।"

"चलो, तुम्हारे साथ मैं भी चलूँगा"—कहते हुए वे तत्काल कुर्सी से उठ खड़े हुए। और अपनी पुरानी लाठी टेकते हुए हमारे अभिप्रेत स्थान की ओर चल पड़े। इस तरह सिर्फ खुशकिस्मती से मैंने उस दिन मातृभूमि के सर्वोत्कृष्ट शिल्पी का उदात्त और प्रेरणापूर्ण संग पाया। वे थे सत्तर-वर्षीय वृद्ध शिल्पाचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर।

कुछ क्षणों में ही हम उस जीने तक आ पहुँचे, जो आश्रम गुरु के तीर्थ-गृह को जाता था। हम लोग नितान्त चुप थे, क्योंकि तीर्थ-यात्रा की भावना से हमारे हृदय आर्द्र और भाव-विभोर बने जा रहे थे। गम्भीर

मौन-भाव से (जिसमें मौन ने मौन के द्वार पर अपनी बात कही) हमने उस पवित्र स्थान की परिक्रमा की। क़दम-क़दम पर हमारी दिली आँखें वह दृश्य निहार रही थीं, जब कि इसी स्थान पर कभी हम गुरुदेव को देवदूत की-सी शोभा-सज्जावाले श्वेत-सरल परिधान पहने देखा करते थे। अपने अन्तस्तल में हम अनुभव कर रहे थे, मानो वेदिका की प्रदक्षिणा कर रहे हों।

वातावरण की पवित्रता और गम्भीरता के कारण मन्त्र-मुग्ध की-सी दशा में हम लोग सीढ़ियों से नीचे उतर आये। अश्रु-जल के आविर्भाव के साथ गम्भीर मौन टूट गया। मैंने देखा, शिल्पी गुरु की अँखियाँ आन्तरिक प्रेम उमड़ आने के कारण डबडबा रही हैं।

"वे जीवित हैं, वे अभी जीवित हैं!"—कलागुरु कहने लगे। उनका कण्ठ अभी तक प्रेम-संभार से अवरुद्ध हो रहा था। वे कहते गए—"शिल्पी प्रथम तो अपने ही चित्त-लोक में निवास करता है, फिर अपने सहयोगियों के चित्त-राज्य में और अन्त में अपनी कृतियों में।"

इसके बाद कलागुरु का मुखड़ा किसी विचारोदय के कारण सतेज हो गया। वे मेरी ओर निहारकर कहने लगे—"हम उन्हें याद रखेंगे, ज़िन्दा रखेंगे, कभी अवसन्न नहीं होने देंगे।"

जब मैं विनम्र-भाव से उनके भावों का अनुमोदन कर रहा था, तभी मैंने पल-भर में ही अनुभव किया कि उत्तरदायित्व का वह भार कैसा गुरुतर है।

उसी सिलसिले में वे कहते गए—"वे (जो भौतिक सम्बन्ध की दृष्टि से उनके चाचा होते थे; पर भावना की दृष्टि से जो उनके सतीर्थ शिल्पी-बन्धु थे) तो मेरे सर्वस्व थे। उनके अवसान ने मुझे तूफ़ान में एक अनाथ की तरह छोड़ दिया है। ऐसा अनाथपन तो मैंने अपने निजी परिवार के प्यारे से प्यारे व्यक्ति के अवसान पर भी नहीं अनुभव किया। वे मेरे खेल के साथी थे, माता-पिता थे, मन्त्रदाता गुरु थे—एक ही साथ वे मेरे सब-कुछ थे।"

कुछ क्षण के लिए वे रुक गए। हृदय की गहराई में वे डूबे जा रहे थे। फिर बोले—"अब देरी नहीं है; मैं भी उनके पास पहुँच जाने को हूँ। तब कैसी चिन्ता और कैसा क्रन्दन ? हो सकता है, तुममें से कोई-कोई मुझे भी याद करे। पर यदि मेरी कृतियों ने सनातन सत्य का स्पर्श प्राप्त किया होगा, तो मैं भी दिवंगत रवि काका की तरह उन कृतियों में तथा उनके द्वारा जीवित रह सकूँगा।"

इसी समय श्री नन्दलाल वसु के कुछ छात्र उमंग के साथ हमारी ओर आते हुए दिखाई दिए। वहाँ आते ही उन्होंने अपने आचार्य के पाँव छुए। शिल्पी गुरु ने भी उनके श्रद्धा से अवनत मस्तकों पर आशीर्वाद का हाथ फेरा।

छात्रों की बग़ल में दबे हुए श्वेत काग़ज़ों के पुलिन्दों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने पूछा—"यह क्या है ?" फिर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वे बोल उठे—"अच्छा, समझा; तुम लोग स्कैच करने निकले हो।" और फिर सहसा उनके अन्तर का शिल्पी सजग हो आया। बोले "पदार्थ या दृश्य को देखते ही उनका अंकन मत प्रारम्भ कर दो। यह काम तो एक कैमरा भी बड़ी शीघ्रता और वास्तविकता के साथ कर सकता है। तुम लोग, जो शिल्पी बनना चाहते हो, वस्तु को केवल बाहर की आँखों से ही मत निहारो, अन्तर की भेदनी दृष्टि से भी पहचानो। आँकने के लिए अपने काग़ज़ और पेन्सिल को तब तक हाथ मत लगाओ, जब तक तुम प्रतिदिन के गहरे अवलोकन के द्वारा उस पदार्थ के रंगों की विचित्रता और सूक्ष्मता का मर्म ज्ञात न कर लो। तब तक चित्रांकन आरम्भ मत करो, जब तक वह मार्मिक ज्ञान तुम्हें पदार्थों के अनन्त और आदर्श-मूल रूप का दर्शन न करा दे।

'प्रकृति का अपना स्मृति-भाण्डार अति विपुल है। उसके अन्दर टाइप और रूप संचित पड़े हुए हैं। तुम उसके प्रत्येक जातीय रूप का अवलोकन और अध्ययन नहीं कर सकते। उसकी नकल करना तो और भी असम्भव है। यदि ऐसा कर भी सको, तो तुम केवल नक़ल ही नक़ल

कर पाओगे। तो फिर तुम इस विषय में प्रकृति-जैसे ही क्यों नहीं बन जाते? तुम अपनी कुतूहल-प्रेरित कल्पना द्वारा उस दिव्य गतिमान् आदर्श-रूप का साक्षात् दर्शन करो और उससे अपनी कृति को अनुप्राणित करो।

'प्रकृति-देवी की उपस्थिति में तुम विनम्र बनकर सामने खड़े हो। उसकी पावनता द्वारा अपने को प्रशान्त और पावन बना लो। तुम उसके पुत्र हो, इसलिए वह सबसे अधिक तुम्हें अपने आँगन में खेल-कूद करते देखना चाहती है। यही आँगन उसका मन्दिर भी है। सभी शिल्प खेल हैं—परम सुन्दर का खेल। यह विश्व भी उसी सुन्दर की मंगलमय क्रीड़ा है। सच्चा शिल्पी शिक्षक नहीं अपितु अधिकांश खेल का साथी होता है।

ठीक इसी समय श्री नन्दलाल वसु वहाँ पधारे। उनकी ओर अपनी पुरानी लाठी से संकेत करते हुए शिल्पीगुरु कहने लगे—"इसके द्वारा अनुशिक्षित मत होना! इसे भी सदा सबके साथ खेलने दो! तुम इसके खेल के साथी बन जाओ और इस तरह उस दिव्य खिलाड़ी के साथी बन जाओ, जो सबका साथी है।"

'टन्-टन्-टन्' करके जलपान की घण्टी बजी और हम सब आवास की ओर लौट आये। मार्ग में मेरे मन में बराबर यही विचार आता रहा जैसे आज मैं कोई तीर्थ-यात्रा करके लौटा होऊँ।

शान्तिनिकेतन के शिल्पगुरु—श्री नन्दलाल वसु

मानव के व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक कर्मकार और दूसरा शिल्पकार-कलाकार। कर्मकार के रूप में वह अपने कर्म-कौशल से रोटी कमाता और आजीविका चलाता है। और शिल्पकार के रूप में वह अपनी पैनी दृष्टि से विश्व के निगूढ़ सौन्दर्य को मूर्त्त-रूप प्रदान करता है। उसकी वे कृतियाँ सदा आनन्द देने वाली होती हैं। सच पूछा जाय तो मनुष्य की आत्मा ही शिल्पी होती है, प्रबुद्ध आत्मा ही यथार्थ में सर्जक बन सकती है। बाकी इस मोहक और लोभी संसारस्थली में अन्य लोग जो कि कलाकारों की श्रेणी में परिगणित होते हैं, वे सभी बाज़ार में चलने वाले जाली सिक्कों की तरह होते हैं!

शांतिनिकेतन के शिल्पगुरु श्री नन्दलाल वसु पावन और प्रशान्त प्रभावाले कलाधर हैं। वे आनुधिक भारतीय शिल्प परिपाटी में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले शिल्पाचार्य श्री अवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्धतम शिष्यों में से हैं। इसके अतिरिक्त वे दक्षिणेश्वर के उस प्रभुभक्त संत रामकृष्ण परमहंस के भी एक दीक्षित शिष्य हैं—यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात है। इसी कारण नन्दबाबू उस अद्भुत मादकता में निमग्न रहते हैं, जिसे रहस्यवादी लोग 'उन्मत्त चेतना'—'Drunken consciousness'—कहते हैं। उनके चित्त में वह 'दैवी नम्रता' विद्यमान है, जिसमें व्यक्ति प्रभु के प्रति अपनी अकिंचनता के भाव को सदा जाग्रत् रखता है।

नन्दबाबू की इस दिव्य नम्रता के विषय में एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक संभावित अतिथि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की स्वप्नभूमि और प्रयोग स्थली—शांतिनिकेतन आश्रम—को देखने के लिए आये। इस शांतिनिकेतन में ही गुरुदेव ने नन्दबाबू को कला-मन्दिर का प्रधान पुरोहित बनाया है। अतिथि महोदय ने आश्रम की परिक्रमा करके सभी विभागों का अवलोकन किया। चित्रालय (Art Gallary) दिखाने के लिये ठिगनें कद वाला, वर्गाकार कन्धें वाला, सादी पोशाक वाला, खुले मस्तक वाला, नंगे पैर वाला, उपनेत्र वाला, उज्ज्वल मस्तक और तेज़स्वी नयनों वाला एक व्यक्ति अतिथि को मार्ग-दर्शन कराने लगा। पथदर्शक ने

क्रमशः चित्रों का परिचय कराया और चित्रकारों के नाम से भी प्रेक्षक को परिचित किया। पथदर्शक ने केवल अपने बनाये हुए 'शिव का नृत्य' नामक चित्र का प्रेक्षक अतिथि को परिचय नहीं दिया। प्रेक्षक उस चित्र के आकर्षक सौन्दर्य को निहार कर मुग्ध-सा रह गया तथा चित्रकृति के रचयिता का नाम पूछना भी भूल गया!

शांतिनिकेतन के अतिथिगृह से बोलपुर स्टेशन के लिए बिदा होते समय आगन्तुक ने मुझ से वार्तालाप करते हुए कहा—इस ज्ञानतीर्थ को निहार मैंने अपार आनन्द पाया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के साथ वह वार्तालाप, छात्रों की वह मनोमुग्धकारी संगीत-गोष्ठी तथा कलाभवन में रंगों की वह मनोहर मजलिस, मुझे चिरकाल तक प्रमोद, प्रसाद और प्रेरणा का मानसिक भोजन देती रहेगी। परन्तु खेद का विषय है कि मैं शिल्प-स्वामी नन्द बाबू से नहीं मिल सका।

'आपने उन्हें जरूर देखा है' मैंने उत्तर दिया—'वे श्री नन्द ... थे, जिन्होंने गत अपराह्न काल में आपको चित्रशाला के चित्रों क... कराया था।'

प्रेक्षक महोदय के विस्मय का ठिकाना न रहा। उनको इस बात क... बड़ा अनुताप रहा कि वे उस विश्रुत और विनम्रचेता शिल्पकार को नहीं पहचान सके! सच तो यह है कि नन्द बाबू आत्मगोपनशील व्यक्ति हैं, और सच्चे गुणी कलाकार की यही विशेषता होती है कि वह कला की प्रतिष्ठा चाहता है। उसे अपने सम्मान की परवाह कम ही होती है!

नम्रता तो नन्द बाबू का प्रधान गुण है, उनके चरित्र का आभूषण है। आजकल के आत्म-प्रचार लोलुप शिल्पियों के लिए उनका यह गुण कितना अच्छा बोधपाठ है।

नन्द बाबू का जन्म सन् १८८३ में दरभंगा राज्य के खड्गपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता जी राज्य के एक कुशल इञ्जीनियर थे। वे अपनी सत्यता और साधुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वे अपने अवसान के समय अपने बालकों को "अपना बहिरंग और अन्तरंग सदा पवित्र

रखने के लिए" अनुशासन कर गये थे। नन्द बाबू की माता भी बड़ी धार्मिक और भक्तिपरायणा महिला थीं। नन्द बाबू को हस्तकौशल और प्रभु-प्रीति के सद्‌गुण अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में मिले हैं। नन्द बाबू कॉलेज में उपस्नातक श्रेणी की पढ़ाई तक पहुँचे होंगे कि उनके भविष्य निर्माण के जीवन-देवता गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने उनको ग्रंथ शिक्षा छोड़कर तूलिका की तालीम प्राप्त करने को प्रेरित किया। उन्हीं की उपकारी प्रेरणा का यह परिणाम हुआ कि नन्द बाबू शिल्पस्वामी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट संपर्क में आये। उसके कुछ वर्ष पूर्व ही अवनीन्द्र बाबू भी भारतीय कला को पाश्चात्य शिल्पकारों के अन्धानुकरण से बचाने की सुदिशा और सत्प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे। इस समस्त दिशादर्शन और सत्यप्रेरणा का श्रेय एक सहृदय अंग्रेज महानुभाव को है जो कि उन दिनों कलकत्ते की सरकारी कलाशाला के प्रिन्सिपल थे। भारतवर्ष में आधुनिक कला जागरण के इतिहास में गुरु और शिष्य (श्री० ई० बी० हैवल और श्री अवीन्द्र बाबू) का यह सम्मिलन एक महत्त्वपूर्ण और युगप्रवर्तक घटना है।

इस छात्रकाल में अवनीबाबू के तेजस्वी प्रभाव के नीचे नन्द बाबू की केवल कला और सौन्दर्य विषयक प्रसुप्त शक्तियों ने ही अपना विकास साधा हो ऐसा नहीं। दक्षिणेश्वर की छाया में उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों ने भी बहुत विकास सिद्ध किया। इस प्रकार नन्द बाबू के भाग्य-विधायक प्रभु ने मानों उनके अन्दर इस सचाई को प्रकाशित करके बताया कि कला और धर्म-जीवन रूपी ढाल के दो पार्श्व हैं। आगे जाकर यही सचाई शांतिनिकेतन की शान्त एकान्त छाया में पल्लवित और पुष्पित होने लगी। नन्द बाबू कलकत्ते की [illegible] कोलाहल-पूर्ण राजधानी को छोड़कर कवि [illegible] तपोवन में आ गए। कोई बीस वर्षों से नन्द बाबू विश्वभारती के कलाविभाग के संचालक हैं। उनके शांतिनिकेतन आ जाने से कवीन्द्र की चिरवांछित इच्छा पूरी हुई। शांतिनिकेतन आकर नन्द बाबू ने केवल वहाँ की कला और सौंदर्य-दृष्टि को ही प्रोज्ज्वल और प्राणवान् नहीं बनाया। साथ ही

उन्होंने गुरुदेव के बनाये हुये नाट्यप्रबन्धों के अभिनय के लिए वहाँ के नाट्यमञ्च को भी अपनी प्रतिभा और कल्पना के रङ्गों से अनुरञ्जित और अनुप्राणित किया है।

कलाकार और कलाशिक्षक के रूप में उनके अपने ध्येय को समझने के लिये यही उचित है कि उनके अपने शब्द प्रयुक्त किये जायँ। कुछ वर्ष पूर्व इस विषय में अख़बारों में नन्द बाबू ने अपना अभिमत निम्न-लिखित शब्दों में प्रकट किया—

"हम अज्ञात की ओर प्रयाण कर रहे हैं, क्योंकि केवल वर्त्तमान ही हमारे लिए सत्य है—अतीत और भविष्यत् नहीं। हम भारतीय हैं क्योंकि हम भारत की आत्मा को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। शैली और रीतियों की परवाह न करते हुए हम लोग प्राणवान् का स्वागत करते हैं, हम उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं, जिसे हमारे पास आनेवाले, हमारे लिए लाते हैं।

इसी कारण हम रीति और विधान को अधिक महत्त्वशाली नहीं समझते। हम जीवन की पूजा करते हैं, प्राण की उपासना करते हैं, जो कि जीवित की आत्मा है!

हमारा अतीत हमें प्रेरणा देता है। प्रकृति हमें प्रेरणा देती है। विश्व के पुरातन अनुभव हमें मार्ग-दर्शन कराते हैं।

हमने अपने आन्तरिक आनन्द को प्रकट करने का प्रयत्न किया है—क्योंकि जीवन के आनन्द के प्रकटीकरण का नाम ही कला है।"

उपर्युक्त शब्दों में उपनिषद् के संदेश की प्रतिध्वनि गूँज रही है, जिस ध्वनि को नन्द बाबू ने अश्रान्त साधना द्वारा अपने जीवन में अनु-प्राणित किया है।

नन्द बाबू की सर्जक कला और उनके दैनिक आचार का ध्यानसूत्र है—हम जीवन की उपासना करते हैं, प्राण की पूजा करते हैं। इसीलिए वे वास्तववाद के विरुद्ध हैं। अपने छात्रों के प्रति नन्द बाबू का मुख्य आदेश यही रहता है कि आकृति के पीछे रहने वाले आत्मा को, भाव को

देखने का प्रयत्न करो। घटना के पीछे रहने वाली यथार्थता को निहारो। सामान्य के पीछे रहने वाले विशेष को पहिचानो। इस विषय में दो प्रासंगिक घटनाएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

एक नवागन्तुक विद्यार्थी—प्रत्येक नये छात्र के मन में इसी प्रकार का प्रश्न बहुधा जागता है—ने नन्द बाबू से पूछा कि वह किस विषय को लेकर चित्रांकन करे। नन्द बाबू तुरन्त बोले—"जो भी विषय तुम्हारे नयनों के सामने आए, उसका अंकन कर सकते हो। यथा—पुष्प, पत्ता, गधा आदि !"

नवागत छात्र गुरु जी की ओर ज़रा विस्मय-दृष्टि से निहारने लगता है मानो वे कुछ परिहास कर रहे हों ! शिल्पगुरु ने उसका मनोगत भाँप लिया। शीघ्र ही अपनी जेब से एक खाली काग़ज़ और पेन्सिल—जो कि उनकी जेब में सदा मौजूद रहते हैं—निकाल कर समीपस्थ खेत में चरते हुए एक गधे का जीवित रेखांकन (स्केच) कर बताया। छात्र चित्रांकन को ध्यान से निहारता रहा। अंकन समाप्त होते ही वह भावावेश में बोल उठा—"मास्टर महाशय, क्या गधा इतना सुन्दर हो सकता है ?"

"निःसंदेह, यदि किसी के पास अवलोकन की दृष्टि हो।"—गुरु जी ने उत्तर दिया। और इस प्रकार की आश्चर्यवाहिनी दृष्टि तो उनके पास प्रभूत मात्रा में है। नन्द बाबू की इस विशिष्ट प्रतिभा के विषय में कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'शिल्पी के प्रति' नामक कविता में अच्छा संकेत किया है :—

"हे चित्रकार, हे चिरयात्री, तुम आस-पास की सभी वस्तुओं पर अपनी दृष्टि का जाल फेंकते हुए चले जा रहे हो। उन दृष्ट वस्तुओं को तुमने रेखाओं में अंकित करके देश-परदेश भेज दिया है। यह जो कुछ भी, जैसा-तैसा भी है, वह तुम्हारी दृष्टि में द्विज और चाण्डाल के भेद से विहीन है।"

प्रत्येक व्यक्ति के लिये नन्द बाबू तक पहुँचना बहुत सरल है; चाहे वह कलाकार हो या न हो। किसी भी मानवबन्धु के साथ असौजन्य और औदासीन्य को वे सहन नहीं कर सकते।

एक बार उन्होंने देखा कि एक उच्च पदाधिकारी व्यक्ति जो कि उनका मित्र था, तथाकथित बड़े लोगों के साथ तो विशेष शिष्टता का व्यवहार करता था और छोटे लोगों के आतिथ्य आदि में उपेक्षा रखता था। नन्दबाबू ने सोचा कि अनजाने में ही इस प्रकार मनुष्यता का अपमान करने की अपने मित्र की इस वृत्ति का कुछ इलाज करना चाहिए। मित्र को ठीक राह पर लाने के लिए वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

एक दिन वह पदाधिकारी मित्र अपने कमरे में बैठा हुआ कार्य-निमग्न था। मकान के बाहर मैदान में एक गधा खड़ा हुआ था। दुपहरी का समय था। अफ़सर महाशय अपने कागज़ पत्रों में तल्लीन थे। नन्द-बाबू ने अन्दर आकर सूचित किया कि एक प्रेक्षक अतिथि उनसे मिलने के लिए बाहर प्रतीक्षा कर रहा है। इतना कहकर नन्दबाबू स्वयं पिछले दरवाज़े से चुपके से सरक गये। अफ़सर मित्र शीघ्र ही खड़े हो गये और अपने वस्त्रों को व्यवस्थित करके बड़े वेग से आगन्तुक के सत्कार के लिए बाहर निकले। बाहर जाकर उन्होंने क्या अनुभव किया होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। परन्तु उन्होंने उस संकेत को ठीक प्रकार अवगत कर लिया जिसे वह विनोदप्रिय शिल्पी बताना चाहता था। इस घटना के बाद वह संभावित महानुभाव अपने व्यवहार में बहुत विनयशील बन गये।

नन्दबाबू की विनोद चर्चा बहुत चोखी और परिष्कृत होती है। बहुधा उसमें एक बालक की-सी स्वाभाविक चपलता होती है। यह मनोहर विनोद-शीलता उनके स्केचों, चित्रों और ऑटोग्राफ संपुटों (स्वाक्षरी की पोथी) में भी निहारी जा सकती है। विनोद के मज़ेदार मसालों से उनके कलाविषयक वार्तालाप और चर्चाएँ सुस्वादु बन जाती हैं। इसके सिवाय नन्दबाबू में एक ओर यदि बालसुलभ वशंवदता और प्रभावग्राहिता विद्यमान हैं तो दूसरी ओर एक प्रौढ़ और दक्ष पुरुष की सहज स्फूर्ति और तेज भी विद्यमान हैं। उनकी कला भी उनकी मानवता की तरह सर्वग्राही है। वे 'सुन्दर' के उपासक हैं—चाहे वह सौन्दर्य तत्त्व कहीं से

भी, आँखों की खिड़की से या कानों के झरोखे में से होकर, उदात्त आत्मा के रूप में, एक सुन्दर दृश्य के रूप में, एक स्केच के रूप में, या एक मधुर गीत के रूप में, उनके पास आता हो।

यह एक विस्मय और दया का विषय है कि 'जिस पुरुष का समस्त व्यक्तित्व प्राणों के प्रबोध से तालबद्ध और तरङ्गित हो रहा है, उसने सङ्गीत विद्या नहीं साधी है। अन्यथा यह निश्चय है कि वे एक सिद्ध गायक बन सकते थे।

नन्द बाबू की कला कृतियों (विशेषतः बुद्धमहाभिनिष्क्रमण, उमा का संताप, शिव का विषपान पार्वती के लिए शिव का अनुताप, चैतन्य महा-प्रभु आदि) को देखने से आत्मा को रसायन की मात्रा मिलती है, प्राण को प्रोत्साहन मिलता है, हृदय को एक अविस्मरणीय अनुभूति प्राप्त होती है।

सचमुच वे प्राणों के पूजक हैं और प्राण कभी पुरातन नहीं होते! इसीलिए हम कह सकते हैं कि नन्दबाबू शिल्पी के साथ-साथ योगी भी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने नन्द बाबू को समर्पित एक कविता में क्या ही उत्तम कहा है—

"तुम एक ऐसे मकान में पैदा हुए थे, जिसके बाहर रङ्गों का रहस्य खड़ा होकर उसकी चौकसी कर रहा था। उस भवन में बैठकर तुमने जीवन-पथ पर चलकर थके हुए यात्रियों की विश्रांति के लिए एक रूप का घोंसला बनाया! उसमें तुमने अपनी रेखाओं द्वारा 'सनातन आश्चर्य' को बन्दी कर दिया। भगवान् करे तुम्हारी तूलिका शङ्कर की आर्द्र जटा की तरह जीवन के जलों का स्रोत बनी रहे!"

भारत माता के इस तरह के शिल्प-स्वामी ने अभी हाल में ही अपने जीवन की षष्ठी पूर्ति करके ६१ वें वर्ष में पदार्पण किया है। प्रभु करें इस शिल्पऋषि को आर्य ऋषियों का 'शत शरदों' का तेजोमय आयुष्य प्राप्त हो और इनके कुशलकरों से आर्यशिल्प की विजय-वैजयंती दिग्दिगन्त में फहराती रहे।

रामानन्द बाबू

पहले-पहल मैंने रामानन्द बाबू के बारे में उस समय सुना, जब मैं बम्बई के एक कालेज में पढ़ता था। पर उनसे मेरा सर्वप्रथम साक्षात्कार १९२५ में ही हुआ, जब कि वे कविगुरु रवीन्द्रनाथ के अनुरोध पर कालेज के अध्यक्ष होकर शान्तिनिकेतन आये। उस समय मैं कालेज का एक शिक्षक था। उनके आगमन के एक सप्ताह के भीतर ही हम लोग आन्तरिक रूप से उनके व्यक्तित्व का सम्पर्क और प्रभाव महसूस करने लगे। रामानन्द बाबू अनुशासन के बड़े जबरदस्त हामी थे। हममें से बहुत से लोग आराम से, मनमाने ढंग पर, काम करने के आदी हो चले थे। उन्होंने आकर पहले-पहल इसका इलाज किया। एक बार मेरे एक सहयोगी से, जो प्रायः घण्टी बजने के बहुत देर बाद क्लास में आया करते थे, उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर में कहा—'देखिए, अनुशासन का पालन अनुशासन के ढंग पर ही होना चाहिए।' एक अवसर पर मुझे भी उनकी अनुशासन-प्रियता का अनुभव हुआ था।

एक बार विद्या-भवन के अध्यक्ष पं० क्षितिमोहन सेन कलकत्ते की किसी साहित्यिक संस्था द्वारा कबीर पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किये गए। इस अवसर पर सभापति का आसन गुरुदेव ग्रहण करने वाले थे। पर किसी कार्यवश वे कलकत्ता जाने में असमर्थ थे, अतः उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि मैं कलकत्ता चला जाऊँ तो क्षिति बाबू के भाषण के बाद कवि-रचित रहस्यवाद के दो-एक पद गा दूँ। चूँकि रामानन्द बाबू कालेज के अध्यक्ष थे, मैं उनके पास पहुँचा और कहा कि मुझे एक दिन की छुट्टी दी जाय। उनके कमरे में पहुँचकर मैंने उनके पाँव छुए और मौखिक रूप से अपना आशय निवेदन किया। उन्होंने पूछा—'क्या आप अर्जी लिखकर लाए हैं?

'जी नहीं',—मैंने उत्तर दिया—'मैं गुरुदेव के आदेश से कलकत्ता जा रहा हूँ। मैंने सोचा, आपसे कह-भर देना काफी होगा।'

'यह कभी नहीं होगा। पहले आप छुट्टी की अर्जी लिखकर मुझे दीजिए, फिर अपने किसी सहयोगी से ऐसी व्यवस्था कीजिए कि आपकी अनुपस्थिति में वह आपका क्लास ले सके और तब मुझसे जाने की अनुमति लीजिए।'

फलतः मैंने ऐसा ही किया; पर, जैसा कि मेरा स्वभाव है, मन में मुझे अवश्य यह खटका कि इस जरा-सी बात के लिए ये नाहक मुझे इतनी जहमत उठाने के लिए क्यों मजबूर कर रहे हैं। पर जब मुझे मालूम हुआ कि अंग्रेजी-विभाग के मेरे अन्यतम सहयोगी साधु सी० एफ० एंड्रूज भी— जो भूखों या पीड़ितों की सहायता के लिए सब-कुछ छोड़कर, बिना किसी बात का विचार किये, दौड़ पड़ने के लिए विख्यात थे—कई बार रामानन्द बाबू की अनुशासन-प्रियता का शिकार हो चुके हैं, तो मेरा मलाल जाता रहा।

जब तक रामानन्द बाबू कालेज के अध्यक्ष के रूप में शान्तिनिकेतन में रहे—और दुर्भाग्यवश अनेक अनिवार्य कारणों से वे यहाँ ६ महीनों से अधिक नहीं रह सके—अक्सर वे अध्यापकों के चायघर में आया-जाया करते थे। कभी-कभी गुरुदेव भी यहाँ आया करते थे। यहाँ चाय पीते समय हम लोग अक्सर कालेज और देश-विदेश की सामयिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। एक बार किसी सरकारी प्रकाशन के तथ्यों को लेकर एक अध्यापक रामानन्द बाबू से उलझ पड़े। रामानन्द बाबू ने बड़े शिष्ट एवं संयत भाव से उसका सही रूप रखा; किन्तु अध्यापक महोदय ने उन पर विश्वास नहीं किया और अपने मत के समर्थन में ही बहस करते रहे। इस पर रामानन्द बाबू चुपचाप उठे और पास ही में स्थित पुस्तकालय से आलोच्य सरकारी प्रकाशन लाकर वे पृष्ठ खोलकर अध्यापक महाशय के सामने रख दिए, जिनपर रामानन्द बाबू द्वारा अनुमोदित तथ्य मुद्रित थे। इसपर अध्यापक महाशय को मुँह की खानी पड़ी।

पर 'माडर्न रिव्यू' के उस मेधावी सम्पादक की जितनी भी स्मृतियाँ मेरे दिमाग में हैं, उनमें से एक वर्षों से बड़ी प्रबल हो उठी है। वह इस प्रकार है—एक दिन शायद अस्वस्थता के कारण, गुरुदेव शान्ति-निकेतन में होनेवाली साप्ताहिक प्रार्थना नहीं करा सके। अतः उन्होंने रामानन्द बाबू से प्रार्थना कराने का अनुरोध किया। वे तुरन्त आसन पर जा बैठे। जब सब लोग धीर-गम्भीर स्वर से गा रहे थे—'हे प्रभु, आप हमारे पिता हैं; मन-प्राण से हम आपको प्रणाम करते हैं, अपना चन्द्र-मुख हमसे कभी दूर न कीजिए' आदि तो मैंने देखा कि रामानन्द बाबू के बन्द नेत्रों से आँसू ढुलक रहे थे! इसके बाद उन्होंने जो संक्षिप्त उप-देश दिया, उसके एक-एक शब्द में मानो उनका हृदय उमड़ रहा था।

एक बार रामानन्द बाबू गुरुदेव के निवास-स्थान (उत्तरायण) के बरा-मदे में बैठे थे। कवि पास ही बैठे अपना साहित्यिक कार्य कर रहे थे। इसी समय एक आगन्तुक कवि के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदन करने आया। उसने रामानन्द बाबू को ही रवीन्द्रनाथ समझकर उनके चरण छू लिए। इसपर रामानन्द बाबू ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा—'मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ, जिससे आप मिलने आये हैं। मैं तो आप ही की तरह एक सामान्य व्यक्ति हूँ। जिससे आप मिलने आये हैं, वे उधर भीतर हैं।'

स्वर्ग से शिल्पी*

भगवान् स्वर्ग के कक्ष में अपने सिंहासन पर आसीन थे। उनके मुख पर प्यार की परेशानी छाई हुई थी।

प्रधान देवदूत ने अपनी विनम्र दृष्टि ऊपर उठाकर जिज्ञासा की : "महिमामय को कौन-सा कष्ट है?"

"मर्त्यलोकवासी अपनी सन्तानों के बीच फैली हुई बेसुरी और बेमेल फूट।"—भगवान् ने उत्तर दिया। "शान्ति की स्थापना के लिए मैं अपने कुछ मन्त्रियों को नियुक्त करना चाहता हूँ। कर्म-समिति की एक आवश्यक बैठक बुलाने की व्यवस्था करो।"

देवदूत ने मस्तक नवाया और बाहर आकर मन्त्रियों का आह्वान करते हुए द्रुत-चपल सेवक को रवाना किया।

परमराजराजेश्वर के सिंहद्वार पर मेघों के मौन रथ चुपचाप आ-आकर रुक गए। जो उन पर बैठे हुए थे वे हलके पाँव से उतर कर उस विपुल कक्ष में जा पहुँचे जहां भगवान् अपने नक्षत्र-खचित दीप्त आसन पर उनकी अपेक्षा करते बैठे थे।

"महिमामय की क्या आज्ञा है?"—मन्त्रियों ने समवेत स्वर से निवेदन किया।

"मेरे प्रिय मन्त्रिगण! कितने ही वसंत बीते, अपने मानवीय कुटुम्बियों के बीच भेद और विसंगति की खबरें बराबर मेरे कानों तक पहुँच रही हैं। उनके इस अनवरत विरोध का अन्त कर देने की गरज से मैं तुममें से कुछ को मर्त्यलोक में भेजना चाहता हूँ। अपने साथ विभिन्न विभागों के सहयोगियों को भी लेते जाओ जिससे वे तुम्हारे इस महान् श्रम में तुम्हें कुछ सहायता पहुँचा सकें।"

---

* श्री नन्दलाल वसु, भारत के प्रख्यात शिल्पी की साठवीं सालगिरह के मौके पर जो दिसम्बर महीने में पड़ती है।

मन्त्रियों ने ध्यान मौन होकर गम्भीर श्रद्धा के साथ आलोकमय की वाणी सुनी। उनके नेता ने निवेदन किया, "राजराजेश्वर, कल सूर्य की प्रथम किरणें जिस समय मर्त्य प्राणियों के अधिवास के शिखरों को चूमती होंगी, उसके बहुत पूर्व ही हमारा दल स्वर्ग से प्रस्थान कर देगा।"

"तुम्हारी सर्वान्तःकरण से शुभ कामना करता हूँ"—भगवान् ने कहा, "किन्तु अपने शान्तिकामी दल के सभ्यों में एक शिल्पी को ले जाना मत भूलना। कारण, जब तक वे उसके सत्य के मधुर-संगीत को नहीं सुनेंगे और जब तक अपने-आपको उसके सुर के साथ मिलाकर एक नहीं कर रखेंगे—जिस तरह फूल की पंखुड़ियाँ प्रकाश की अनुकूलता में अपने को सँजो रखती हैं—तब तक तुम्हारे सारे प्रयत्न व्यर्थ होने के लिए बाध्य होंगे।"

शिल्पी और साधक

सौन्दर्य के प्रति प्रेम शिल्पी का आराध्य है, और प्रेम का सौन्दर्य साधक का। दोनों की कामना और साधना जीवन को निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखना चाहती है, और ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वह अपने हृदय में स्थान न दे सके। हमारी बहुत-सी राहें हैं, जिनसे हम परिपूर्ण सत्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। शिल्पी और साधक दोनों ही पूर्णता के तीर्थ-पथ के सहयात्री हैं।

साधक के जीवन की पवित्रता और शिल्पी के जीवन की छन्दोमयता—दोनों जीवन-वृत्त के दो अंश हैं, जो मिलकर ही परिपूर्ण होते हैं। वे परिधि के दो भिन्न बिन्दुओं से चलकर अन्त में एक केन्द्र पर पहुँचनेवाले पथिक ही तो हैं। और जब पल-भर के लिए वे सचमुच ही मिलते हैं, तो हम उनके पथ के अलगाव को तो भुला ही देते हैं, साथ ही उस सुन्दर क्षण के दर्शन पाते हैं, जिसमें राहगीरों की नजरें चुपचाप मिलती हैं, उनके दिलों में खुशी की लहरें दौड़ती हैं और दोनों एक-दूसरे को पहचानकर मालूम करते हैं कि वे अलग ही कब थे?

राह जहाँ चुकती है, पथ का जहाँ परिशेष है, वृत्त का जहाँ केन्द्र है, वहाँ झगड़ा नहीं है। वहाँ तो परस्पर की सहज स्वीकृति है। लेकिन इतनी संकीर्ण होती है हमारी दृष्टि की परिधि कि हम बार-बार काठ को ही वृक्ष समझ लेते हैं, अंश को ही समग्र मान लेते हैं, व्यष्टि को ही व्यापक मानवता कहकर स्वीकार कर लेते हैं। दृष्टि की यह ऐकान्तिकता इसीलिए अक्सर हमारी आँखों में द्रोह और दुराग्रह का रंगीन चश्मा पहना जाती है।

शिल्पी और साधक की भी यही कहानी है। समाज साधक का सम्मान करता है; किन्तु शिल्पी के लिए उसके हृदयासन पर यदि एक-

बारगी जगह का अभाव न भी हो, तो ऊँची जगह की कमी रहती ही है। साधक भी कभी-कभी सोचने लगता है, मानो शिल्पी किसी स्वप्न-लोक का ही प्राणी है, मानो वह केवल किसी रस-लोक में—अबाध भोग के कल्पित संसार में ही विचरण करता है, कर्म-जीवन से मानो उसका कोई नाता ही नहीं। यहाँ शिल्पी भी साधक के उलझे वेश और अस्त-व्यस्त बहिरंग के रूखेपन के भीतर सरल शुभ्रता, सरस हृदय की पवित्र सुन्दरता और स्निग्ध उदारता को देख नहीं पाता। 'जो दिखाई देता है वह माया है', 'जो कान्त है वह जरूरी नहीं कि सोना ही हो'—यह सब हम मुँह से तो बहुत बार दुहरा जाया करते हैं; किन्तु पल-भर बाद ही अवसर आने पर हम मनुष्य को उसकी बाहरी रूपरेखा से ही जाँचने लग जाते हैं, उसकी चमक-दमक से ही उसका मूल्य आँकते संकोच नहीं करते।

हो सकता है कि शताब्दियों की परम्परा के कारण सन्त और साधक को जनता ने हमेशा सम्मान के उच्चासन पर बिठाया है, और कभी फूलों से, तो कभी 'पुष्पितां वाक्यं' से उसकी पूजा की है। क़ानून में राजा के समान सन्त कभी भूल कर ही नहीं सकते; लेकिन शिल्पी बेचारे के लिए यह सौभाग्य सहज ही सुलभ नहीं है। कठिन आलोचना की वेदी पर उसका आए दिन बलिदान हुआ करता है। यही बहुत है, जो पुराने समय के समान उसे भेड़िये की माँद में निर्वासित नहीं कर दिया जाता, उसके मांस से जंगल के बाशिन्दों की दावत नहीं होती।

आख़िर क्यों? क्या इसीलिए कि उसके व्यवहार और ढंग हमारे अभ्यस्त और संस्कार-सम्मत तरीकों के भीतर बन्दी होना नहीं चाहते? जो लोग प्रचलित प्रथा के प्रवाह में बिना हाथ-पैर चलाए बहते चलने को ही जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता समझते हैं, वे शिल्पी को उसकी इसी अनभ्यस्त और संस्कारातीत प्रणाली के कारण पागलखाने के लायक समझते हैं। उनके लिए सत्य को भुला देना सहज होता है—फिर चाहे अनजाने ही हो; क्योंकि 'बिना जाने' भूल करने की उनकी जातीय आदत होती है। शिल्पी यदि परम्परा की उपेक्षा करता है, तो इसीलिए कि उस

उपेक्षा जो घेरकर अपनी असाधारण प्रतिभा का क्षेत्र तैयार कर सके। लकीर की फ़क़ीरी वह इसीलिए छोड़ता है कि जीवन के अनन्त छन्द के भीतर अपना निजी ताल खोज सके। इसके बिना वह छन्द मानो अधूरा रह जायगा।

साधक भी यदि सचमुच साधक है, तो परम्परा के पथ से हटकर क्रमशः अपनी अद्वितीय शक्ति के विकास तक पहुँचता है। अवश्य ही उसे असली हीरा होना चाहिए; क्योंकि यदि बहुमुखी सत्य के उसने सचमुच दर्शन पाये हैं, तो वह अपने-आप ही सबसे निराला पड़ जायगा। सच्चे सन्त का कोई सम्प्रदाय नहीं होता। वह किसी तीर्थ में बैठकर धूप नहीं जलाता और किसी की दी हुई गवाही पर ही सत्य को स्वीकार भी नहीं कर लेता। अपनी ही आँखों वह देखना चाहता है। वृन्दावन के शिल्पी-साधक की तरह ही मानो कह सकता है :—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

शिल्पी जिस 'कल्पना' की रंगीनी बुनता है, वही सन्त की आँखों का 'प्रकाश' कहलाती है। शिल्प और अध्यात्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं : शिल्प के भीतर भागवत् तत्त्व का सौन्दर्य बिखरा हुआ होता है और अध्यात्म भागवत् सौन्दर्य के तत्त्व को प्रकाशित करता है। दोनों में आनन्द का आविर्भाव है। इसी से कवि कीट्स सत्यं और सुन्दरं को एक कहकर गा गये हैं। कारण, दोनों ही शाश्वत आनन्द के प्रकाश हैं।

इतना ही नहीं, शिल्प तथा अध्यात्म दोनों के सहारे शिल्पी और साधक अपनी सीमित सत्ता के घेरे से बाहर निकलकर सम्पूर्ण विश्व के छन्द के साथ एक हो पाते हैं। बन्दी-प्राण मानो उन्मुक्त आकाश की पुकार सुनकर फिर घर में बन्दी नहीं रह पाते। इसीलिए दोनों ही समान भाव से हमारी श्रद्धा और सम्मान के योग्य हैं।

उस परम स्रष्टा के विशाल भवन में वातायनों की कोई संख्या है! तब क्या हुआ अगर उस पुरानी कहानी के समान सत्य की ढाल पर कुछ सफ़ेदी ही पोती जाय और कुछ में इन्द्रधनुष के वर्णों का इन्द्रजाल बिखर

पड़े। रंग से आख़िर क्या आता-जाता है, यदि वातायन हमें स्रष्टा की झाँकी दिखा सके ?

कैसी अजब पहेली है कि इतिहास में ईसा और बुद्ध के समान सन्त सदियों से युग के सर्वश्रेष्ठ शिल्पियों को सौन्दर्य की सबसे महान् प्रेरणा देते आए हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि विकास का पहिया घूमकर उस भविष्य की ओर हमें ले जाय, जिसके आभास के द्वार पर हम आज आ खड़े हुए हैं और कौन जानता है, उस युग में शिल्पी ही मानव-जीवन के परम पुण्य स्रोत का अशेष उत्स नहीं होगा ?

'दीन हो धन्य हैं' क्योंकि वे ही भगवान् को देख सकेंगे।' शिल्पी की आत्मा उसकी तूलिका और रंग से ही उज्ज्वल होती है ; साधक की आत्मा भी उसके बलिदान से रक्तरंजित होकर शुभ्र हो उठती है। सबके अन्त में एक ही सूर्य का आलोक शिल्पी और सन्त दोनों की सृष्टि और चरित्र को उद्भासित कर देता है। तब दोनों के कण्ठ में एक ही प्रार्थना जाग उठती है—'अपनी शान्त दीपशिखा के आश्रय में मुझे सुला दो, हे मौन अग्नि के स्वामी ! मेरे अन्तर को धोकर आत्मा की निविड़ इच्छा को पवित्र कर दो। प्रभात-सूर्य की ज्वाला में मेरे चित्त को सम्पूर्ण नहला दो, हे मौन अग्नि के स्वामी, जिससे प्राणों की निविड़ कामना जाग उठे, तब उसकी आँखें तन्द्रा से आविल न रहें—वे स्वच्छ हों !'

Lay me to sleep in sheltering flame
O master of the Hidden Fire !
Wash pure my heart and cleanse for me
My soul's desire.
In flame of sunrise bathe my mind,
O Master of the Hidden Fire !
That, when I wake, clear-eyed be
My soul's desire.

—William Sharp

मानव का पुनर्निर्माण

पुनर्निर्माण प्रकृति का एक बड़ा क़ानून है। इसीलिए तो उसमें हमेशा एक प्रकार की ताज़गी रहती है, और एक मिसाल के तौर पर प्रतिदिन का सूर्योदय कभी भी पुराना नहीं मालूम होता। मगर मनुष्य के जीवन में कई बार जड़ता दिखाई देती है। इसका क्या कारण है? क्या वह प्रकृति से कुछ कम है? क्या वह पुरुष की सन्तान नहीं है? अगर है, तो उसे प्रकृति के क़ानून पर भी अपनी आत्मा के बल और बुद्धि द्वारा काबू पाना चाहिए। मगर उसके बजाय वह प्रकृति का दास बनकर रहता है।

मनुष्य में जो प्रकृति का अंश है, उस पर काबू पाने से ही वह अपने जीवन में ताज़गी ला सकता। जैसे प्रकृति की ताज़गी का मूल कारण छन्द है, वैसे ही मनुष्य को अपना जीवन छन्दमय बनाना चाहिए। ज्यों ही यह छन्द टूटा कि उसकी ज़िन्दगी नीरस बन जाती है। तो सवाल उठता है कि इस छन्द की रचना कैसे हो? यह काम—असल में न तो इन्द्रियों का है और न मन का ही। यह है उसकी आत्मा [illegible]म।

इसका मतलब यह हुआ कि अपना जीवन छन्दमय बनाने के लिए मनुष्य को चाहिये कि पहले वह अपनी आत्मा को पहचाने; क्योंकि अपने अनुभव से उसने बार-बार देख लिया है कि उसका मन उसे हमेशा मदारी की तरह नचाता है, जब तक कि उस मदारी के गले में आत्मा या बुद्धि एक रस्सी नहीं डाल देती। इस दृष्टि से अगर देखा जाय, तो आजकल मनुष्य का जीवन जो इतना जड़मय बन गया है, उसका कारण उसका आत्म-विस्मरण है। इसलिए अगर वह अपने-आपका पुनर्निर्माण करना चाहता है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह खोये हुए मोती की फिर से तलाश करे।

एक बात का उसे ख्याल रहे कि यह पुनर्निर्माण किसी टूटे हुए या नये मकान बनाने की तरह नहीं है—यानी किसी नक्शे के अनुसार ईंट-पर-ईंट रखकर नहीं किया जा सकता। यह तो एक वृक्ष के उगने की तरह है, जो अपने नियम या छन्द के अनुसार ही बड़ा होगा। या यों कहिये कि मनुष्य का पुनर्निर्माण बिजली के 'स्विच' दबाने की तरह है। 'स्विच' दबाते ही अन्धकार दूर हो जाता है और कमरे में जो चीजें पड़ी होती हैं, उनका एक-दूसरे के साथ जो सम्बन्ध है, वह साफ़ जाहिर हो जाता है। मनुष्य की आत्मा का पहचानना इसी 'स्विच' की तरह है, और जैसे 'स्विच' खुद-ब-खुद तो बिजली पैदा नहीं करता; मगर उसका जो तार बिजली घर से लगा हुआ है, वह बिजलीघर से उसे रोशनी पहुँचाता है, वैसे ही यदि मनुष्य की आत्मा का तार परमात्मा से लगा रहे, तो उसके जीवन-गृह में हमेशा रोशनी-ही-रोशनी रहेगी।

मगर आत्मा की पहचान में कई मुश्किलें हैं। सबसे बड़ी मुश्किल है लोभ। और यह लोभ काम, कंचन, कामिनी, कीर्ति आदि के रूप में बहुरूपिया है। और यह लोभ ही है, जो जीवन का छन्द तोड़ देता है। तो फिर लोभ-वृत्ति कैसे दूर की जाय? इसका तो एक ही तरीका है, जो ईशोपनिषद् में दिया हुआ है और जिस तरीके पर अमल करके गांधी जी महात्मा बने, रवीन्द्रनाथ गुरुदेव बने, श्री अरविन्द ऋषि बने और श्री रमन मुनि बने—अर्थात् जो-कुछ इस जगत् में है, वह प्रभु का है। इसलिए किसी वस्तु को अपना मत समझो, उसे एक अमानत समझो, अमानत की तरह उसे इस्तेमाल करो और दूसरों के धन का लोभ मत करो।

इस सत्य का स्वरूप समाजवाद है। इसलिए जो आत्मा को पहचानते हैं और अपने जीवन तथा उसकी सब अमानतों को प्रभु का दान समझते हैं। वे अपना सब-कुछ औरों को बाँटते हैं। वे 'कंगाल राजा' हैं! हो सकता है कि समाजवाद के सिद्धान्तों के पीछे यही भावना रही हो। आत्मा को पहचानने वाले आनंद को पा कर कहते हैं—'प्रभु

आनन्दम् !' मगर रोटी-कपड़ा पा कर मज़दूर पुकार उठता है—'ब्रह्म अन्नम् !' अन्त में दोनों ब्रह्म को पहचानने लगते हैं। अगर अन्न-वस्त्र पा कर एक मजदूर अपने-आपको भी पहचानने की कोई साधना करे—लोभ न करे, सच्ची तालीम हासिल करे, सत्संग करे—तो वह एक सच्चा समाजवादी या संन्यासी बन सकता है। मगर आत्मा को पहचानने के लिए या जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिए मनुष्य को दैनिक जीवन में एक ही मंत्र जपने की जरूरत है। उसकी हर एक वृत्ति, विचार, क्रिया आदि 'शिवमुखी' होनी चाहिए, न कि 'अहंमुखी'।

तंदुरुस्ती की तदबीर

'जीवन-साहित्य' के दो पहलू हैं : एक जो शिव को समझने में सहायता देता है और दूसरा जो जीव को 'शिव' का एक सच्चा सेवक बनाने में मददगार होता है और जीव तो तभी एक सच्चा सेवक बन सकता है जब वह तन्दुरुस्त हो, इसीलिए तो कहते हैं, "तन्दुरुस्ती हजार नियामत है।"

मगर इस भगवान् की बखशीश को सँभालने का तरीका पहले जानना चाहिए। इस बारे में एक कहानी मुझे याद पड़ती है। कुछ बरस पहले अमरीका के एक विश्वविद्यालय के एक अध्यक्ष करीब चालीस वर्ष तक विश्वविद्यालय का काम करके निवृत्त हुए। इन चालीस बरसों में वह एक दिन भी अपने काम से गैरहाजिर नहीं रहे। उनके विश्वविद्यालय से विदा होने के अवसर पर उनके विद्यार्थियों ने उन्हें एक मानपत्र दिया, जिसमें अध्यक्ष महोदय के अनेक गुणों—दिली और दिमागी दोनों—का वर्णन था। मगर उस मानपत्र में अध्यक्ष महाशय से एक विशेष प्रश्न भी पूछा गया था—"क्या आप कृपया हमें यह बतायेंगे कि आप इतने वर्षों तक अपना शरीर इतना तन्दुरुस्त कैसे रख सके हैं?" अध्यक्ष महोदय ने मानपत्र का जवाब देते हुए इस प्रश्न का भी उत्तर दिया। वह उत्तर यह था, "Every day I study carefully my bowels and the Bible।" (अर्थात्—मैं हर रोज बड़ी सावधानी से अपने पेट और धर्मशास्त्र का अध्ययन करता हूँ।) तन चंगा तो मन चंगा, मन चंगा तो तन चंगा।

यह है तन्दुरुस्ती की एक तदबीर। एक और भी तदबीर है। वह यह कि शरीर बिगड़ने पर फौरन हस्पताल के डाक्टर के दर्शन नहीं करने चाहिए; बल्कि दो और डाक्टर हैं जिनकी सलाह लेनी चाहिए।

इन डाक्टरों के नाम हैं—Doctor Diet and Doctor Quiet. (अर्थात् डाक्टर खुराक और डाक्टर खामोशी) खुराक बदलने पर और चुपचाप रहने से बहुत-सी छोटी-मोटी बीमारियाँ खुद ही दुम दबाकर भाग जाती हैं।

एक तीसरी तदबीर भी है। कहते हैं, पैगम्बर मोहम्मद साहब की एक हदीस है जिसमें आप फरमाते हैं, "जो अपनी जीभ और जननेन्द्रिय को संभालकर रखता है उन पर काबू रखता है वह स्वर्ग में प्रवेश करने का अधिकारी है।" स्वर्ग अतिशय सुख का एक प्रतीकमात्र है और सुख का एक अंश तंदुरुस्ती है। इसलिए जो अपने जबान के जायके पर और जननेन्द्रिय पर काबू रख सकता है वह तन्दुरुस्ती हासिल कर सकता है।

तो क्या सब कुछ तदबीर से ही जीवन में होता है? क्या तकदीर कुछ भी नहीं? इन प्रश्नों का जवाब दार्शनिक बन्धु ही दे सकते हैं। मगर जीवन की शाला में बारबार ऐसा सबक पढ़ाया गया है कि बहुत दफा तदबीर ही तकदीर है।

आबादी या बरबादी ?

१९४२ में जब प्रख्यात अमरीकन पत्रकार लुई फिशर भारतवर्ष में आये थे, तब वे एक हफ्ते के लिए सेवाग्राम में रहे थे। उस वक्त हर रोज वे एक घण्टा गांधी जी से जुदी-जुदी समस्याओं पर सवाल-जवाब करते थे। ऐसी ही दैनिक बातचीत के दौरान में एक दफ़ा लुई फिशर ने गांधी जी से भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या—उसकी आबादी में आधिक वृद्धि (करीबन ५० लाख प्रतिवर्ष !)—पर एक प्रश्न किया—"आप इस समस्या को किस तरह हल करना चाहते हैं ?"

गांधी जी ने उत्तर दिया—"आपके प्रश्न का एक जवाब संतति-संयम हो सकता है; मगर मैं उसके विरोध में हूँ।"

इस पर लुई फिशर बोल उठे—"मगर मैं तो नहीं हूँ। परन्तु हो सकता है कि भारतवर्ष-जैसे देश में, जो अब तक कई बातों में पीछे है, संतति-संयम का प्रयोग बहुत सफल न भी हो।"

"तब तो शायद हमें कुछ सामूहिक बीमारियों की जरूरत होगी।"—गांधी जी ने हँसते हुए जवाब दिया।

फिर लुई फिशर ने गांधी जी को बतलाया कि सोवियत रूस में अकाल, सामाजिक बीमारियों आदि के बावजूद जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती गई। आख़िरकार बोल्शेविक लोगों ने १९२८ में कुछ आर्थिक उपायों को काम में लाया।

यह सुनकर गांधी जी ने कहा—"तो आप मुझ से क्या यह मनवाना और कहलाना चाहते हैं कि हमें भी भारतवर्ष में उद्योगीकरण तेजी से करना होगा ? मगर मैं यह बात मानने के लिए हरगिज तैयार नहीं हूँ और इसके लिए मुझे कोई मजबूर भी नहीं कर सकता।"

फिर लुई फिशर ने गांधी जी से भद्र-अवज्ञा के बारे में कुछ सवाल

चूके। मगर कुछ वक्त गुजरने के बाद एक बार फिर उन्होंने जनसंख्या में अतिशय वृद्धि का उल्लेख किया। उस पर गांधी जी ने केवल इतना ही कहा—"अगर बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण होगा, तो सरकार को ज़रूर ही इस तरीके में अग्रदूत होना होगा।"

गांधी जी के इन शब्दों का क्या मतलब है ? उन्होंने कौन-से तरीके का उल्लेख किया ? क्या यह हो सकता है कि उनके मन में जो विचार उस वक्त था, वह कुछ इस किस्म का था यदि भारतवर्ष में बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण हुआ, तो सरकार को जनसंख्या में वृद्धि के बारे में संतति-संयम का विचार करना होगा—केवल इतना ही नहीं, बल्कि उसे लोगों को रास्ता भी दिखलाना होगा ? या गांधी जी के शब्दों का तात्पर्य यह है कि उद्योगीकरण के संबंध में सरकार को ही अग्रदूत होना होगा ? आशा है, गांधी जी के जो अग्रशील अभ्यासी हैं, वे इस बात पर कुछ रोशनी डालेंगे। मगर जो भी हो, संतति-संयम और उद्योगीकरण का परस्पर क्या संबंध है, यह भी विचारणीय है।

गांधी जी संतति-संयम के विरोध में थे भी और नहीं भी—नैतिक रास्तों से वे संतति संयम ज़रूर चाहते थे, मगर बनावटी साधनों से नहीं। अब सवाल तो यह है कि संतति-संयम का नैतिक उपाय कितने लोग कर सकते हैं ? इस बारे में एक बात याद आती है। करीबन २५ बरस पहले गांधी जी के नैतिक उपायों पर जोर देने का उल्लेख करते हुए गुरुदेव ने एक बार कहा था—"नैतिक उपाय तो सबसे उत्तम है; मगर जब मनुष्य वह नहीं कर पाता, तो उसे वैज्ञानिक, बनावटी साधनों का इस्तेमाल करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। आबादी में बहुत जल्दी-जल्दी वृद्धि न हो, असली सवाल तो यह है। अगर आबादी बढ़ती जायगी, तो वह एक बरबादी का कारण होगी। उस बरबादी से बचने के लिए जैसे हम और कई वैज्ञानिक उपायों का सहारा लेते हैं, वैसे ही संतति-संयम के बारे में भी हम विज्ञान की मदद ले सकते हैं।"

मगर लुई फिशर ने यह क्यों कहा कि हमारे देश में यह प्रयोग

सफल नहीं होगा ? यह प्रयोग शायद इसलिए सफल नहीं होगा कि हमारे देश के लोगों को वैज्ञानिक साधनों का ठीक तौर से इस्तेमाल करना नहीं आता, या शायद इसलिए कि उन साधनों की क़ीमत इतनी अधिक है कि वे उन्हें खरीद नहीं सकते।

अगर ऐसा है, तो भारतवर्ष में आज भी गाँवों में ऐसी माताएँ हैं, जो संतति-संयम का बहुत सस्ता कृत्रिम तरीक़ा जानती हैं। इसके अलावा जो रूढ़िवश धर्म का चुस्त पालन करते हैं, वे जानते हैं कि कौटुम्बिक व्यवहार में सदियों से कई ऐसे सिद्धान्त चले आए हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप संतति-संयम सहज ही हो सकता है। और अगर इन सिद्धांतों या दम्पति-जीवन के धार्मिक उसूलों के साथ-साथ लोगों के लिए सांस्कृतिक-आनंद पाने के साधनों का भी प्रबंध किया जाय, तो संतति-संयम की कठिनाई भी कुछ कम हो सकती है। मगर जो सबसे ज़्यादा ज़रूरी बात है, वह यह कि लोगों को काम मिलना चाहिए, जिससे वे अपने मनुष्यत्व का पूरा-पूरा ख़याल रख सकें। खुराक तो कुदरत दुनिया को हमेशा उसकी भूख को मिटाने के लिए देती ही रहती है। हाँ, उस अन्न का संग्रह करने का अधिकार किसी व्यक्ति या सरकार को कभी भी नहीं होना चाहिए।

युद्ध के बीच शान्ति

कहा जाता है कि एक बार किसी ने गांधी जी पर यह कहते हुए फ़बती कसी थी कि वे सत्य और अहिंसा की साधना पर व्यर्थ ही इतना जोर दे रहे हैं, जब कि चारों ओर दूसरे महायुद्ध की विभीषिका में संसार के विभिन्न रंगमंचों पर हिंसा का ऐसा नग्न प्रदर्शन किया जा रहा है। गांधी ने इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा था कि 'अहिंसा की सचाई हिंसा की पृष्ठभूमि में ही परखी जा सकती है, फिर वह हिंसा चाहे कितनी भी रक्तरंजित क्यों न हो।

अभी उस दिन जब एक मित्र ने आगामी 'विश्व-शान्तिवादी' सम्मेलन के शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम में होने वाले दोनों अधिवेशनों की चर्चा करते हुए उनकी उपयोगिता के विषय में सन्देह ज़ाहिर किया, तो मुझे बरबस गांधी जी के उक्त उत्तर की याद हो आई। स्पष्ट है कि जब आग लगी होती है, तभी हम अपने जलाशय की दशा सुधारने का ख्याल करते हैं, या भविष्य में फिर कभी अग्निकांड न घटित हो, इसके लिए ठीक-ठीक रखने की आवश्यकता को महसूस करते हैं।

आगामी दिसम्बर महीने में जिस सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है, उसका विचार 'सोसाइटी आव् फ्रेण्ड्स' या क्वेकर-सम्प्रदाय में पहली बार जगा था और गांधी जी ने उस पर तत्काल अपने अनुमोदन की मोहर लगा दी थी। इस सम्मेलन का उद्देश्य और कुछ नहीं, केवल उन गिने-चुने साधकों को एक बार मिलने का मौका देना है, जिन्होंने आजीवन अपने-अपने ढंग से अपने-अपने देशों में आग बुझानेवाले जलाशय की राह अपनाई है।

हरएक देश में ऐसे कुछ मुट्ठी-भर व्यक्ति या व्यक्तियों की टोलियाँ मिलती हैं, जिन्होंने सदा-सर्वदा सर्वान्तःकरण से इस सत्य में विश्वास

किया है कि अपने भाई का खून बहाना—फिर वह देशभक्ति-जैसे ऊँचे आदर्श के नाम पर ही क्यों न हो—भ्रातृ-घाती के अभिशाप को बुलाना है! उनके जीवन में एसिसी के सन्त फ्रांसिस की पुण्यमयी वाणी का आदर्श और उनकी महान् अभीप्सा का मन्द्र स्वर घोषित होता है। "प्रभु, मुझे अपनी शान्ति का साधक बना। जहाँ घृणा का राज्य हो, वहाँ प्रेम के बीज बो सकूँ। जहाँ आघात बोल रहा हो, वहाँ क्षमा के बीज बो सकूँ। जहाँ निराशा घनी हो आई हो, वहाँ आशा के बीज बो सकूँ। जहाँ उदासी छाई हो, वहाँ प्रकाश के बीज बो सकूँ।"

आगामी शान्तिवादी सम्मेलन में ऐसे ही कुछ मनीषी एकत्रित होंगे और अपने उन अनुभवों को, जिनमें प्राण भी हैं तथा वैचित्र्य भी, एक दूसरे के विचार के लिए उपस्थित करेंगे। फिर वे उस अदृश्य—किन्तु अदृश्य होने पर भी प्रबल शक्ति का आह्वरण करेंगे, जो शान्ति-स्वरूप भगवान् के नाम पर मिलने वाली दो-चार आत्माओं के भी एक-दूसरे के पास आने से अपने आप प्रवाहित हो उठती है। प्रभु ही परम शान्ति के प्रतीक हैं। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि यह अवश्य अनुभव करेंगे कि यहाँ से जाने से पहले उन्होंने मानव-मैत्री और द्वेष के विरुद्ध त्याग करने के अदम्य साहस—इन दोनों सूत्रों को मिलाकर बटी हुई हृदय की रस्सी के प्रेममय बंधन—को और भी मजबूत कर लिया है।

किन्तु संशय करनेवाला पूछता है: आखिर जब कोटि-कोटि योद्धा और संग्राम को ही दो विरोधी दलों के बीच फैसले का एकमात्र चरम साधन समझनेवालों की टोलियाँ मृत्यु को रोक रखने वाले बाँध को तोड़ने-फोड़ने पर कमर कसे हुए हों, तो मुट्ठी-भर शान्तिवादी कर ही क्या लेंगे? और जब एक संदेही दूसरे से मिलता है, तो वे कहते हैं कि पुरानी कहानी में जिस तरह राजा समुद्र की उत्ताल तरंगों के खिलाफ धावा बोलने गया था, वैसे ही ये बेचारे शान्तिवादी संग्राम की बाढ़ रोकने के लिए बालू की भीत खड़ी करने जा रहे हैं। यह भी क्या बुद्धिमानी है!

किन्तु आत्मा में विश्वास करने वाला अपने हृदय की सारी मंगल-भावना और कोमलता की शक्ति को लेकर इसका विरोध करता है। वह जानता है कि मनुष्य के विकास की कहानी ने बार-बार यही साबित किया है कि अंधकार की सघन मेघ-राशि को प्रकाश की 'एक' ही अकेली किरण चीर कर व्यर्थ करने की अनन्त शक्ति रखती है। उस निहत्थी किरण के पास युगों-युगों के अँधियारे का दिवाला निकालने की ताक़त रहती है।

जो सच्चे और पूरे अर्थों में ईमानदार शान्तिवादी हैं, वे प्रकाश की छोटी-छोटी-सी रश्मि-राशियों की तरह हैं। उनका प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है, जितना कि वे विवेक की परम शक्ति के साथ अपना मेल बढ़ाते जाते हैं। और जिन्हें सत्य की थोड़ी-सी भी साधना करने का अवसर मिला है, वे आप से बतायेंगे कि इस मेल के पीछे ऐसे कठिन नैतिक परिश्रम और तपस्या का प्रयोजन होता है, जिसकी तुलना में 'पैरेड-ग्राउण्ड' का परिश्रम पासँग में भी नहीं टिकता। किन्तु उसका प्रभाव आधी रात के उस जादू-भरे प्रभाव की तरह होता है, जो गुपचुप रात की नीरवता में कलियों को खिलाता और फलों को मधुर रस से परिपक्व करता है।

इतना ही नहीं। संसार में एक विशाल नैतिक नियम चल रहा है, जो इस विश्व को परिचालित किये हुए है। शैतान सिर्फ़ किसी हद तक ही अपना चरम प्रभाव फैला सकता है। उस हद तक शैतान को खुल-खेलने की इजाज़त भी दे दी जाती है—वह अपनी सीमा की मायापुरी में बड़ी शान से कुछ दिन राज्य भी कर लेता है। किन्तु उस सीमा के पार शैतान की ताक़त एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती। और तब धर्म की तराज़ू का पलड़ा कुछ इस अन्दाज़ से अचानक उसके विरुद्ध झुक पड़ता है कि शैतान का स्वर्ण-भवन, उसकी आकाशचुम्बी इमारत, उसकी गणनातीत वाहिनी, वैभव और ऐश्वर्य—बालू पर बने हुए प्रासाद की तरह दम-भर में भहरा कर धूलिसात् हो जाते हैं।

शान्तिवादियों को इसी नैतिक नियम पर—उसकी शक्ति और उसके

विधान पर—गहरा विश्वास होता है। बाइबिल के 'जाब' की तरह उनमें उस शुभ घड़ी की राह देखने का धैर्य होता है, जब शान्ति की भावना और उसके साधन युद्ध की लिप्सा पर विजय प्राप्त करते हैं—अपनी जयपताका फहराते हैं। अतएव वे प्रतिदिन—प्रतिमुहूर्त्त—मैत्री के बन्धन को और भी मजबूत बनाते हुए बढ़े जाते हैं। जहाँ तक संभव है, वे सदैव अपने को प्रचार और विज्ञापन की दुनिया से भरसक दूर रखते हैं। अगर वे कभी सम्मिलित भी होते हैं—जैसा कि इस बार आगामी दिसम्बर (१९४९) में वे शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम में होने जा रहे हैं—तो उनका यह सम्मेलन विश्व के मंगल के लिए श्रम करने वाले मजदूर-साधकों के पुनर्मिलन के समान ही होता है।

अस्तु, आगामी विश्व-शान्तिवादी सम्मेलन को आप श्रद्धा और विश्वास के क्षेत्र में जीवट का प्रयोग करने वालों का एक दुःसाहस भी कह सकते हैं। और किसी युग-गुरु ने स्पष्ट ही नहीं कहा था कि विश्वास से पहाड़ भी हिल सकते हैं? पहाड़ सचमुच ही हिलते हैं। अगरचे कि ऊपर से वे अचल-अटल और ठोस होकर बड़े दर्प के साथ खड़े रहते हैं, फिर भी उनकी जड़ें हिल जाती हैं, उनके पाँवों के नीचे की ज़मीन खिसकने लगती है। मुमकिन है कि जिसे दुनिया ठोस वस्तु कहती है, ऐसी कोई ठोस कहलाने वाली चीज़ इस सम्मेलन में न की जा सके, ऐसा कोई कृतित्व इस सम्मेलन के पल्ले न पड़े; तथापि इस सम्मेलन से इतना तो एक बार फिर से सिद्ध हो ही सकेगा कि मानव के हृदय में वास्तव में घृणा का नहीं, प्रेम का, युद्ध का नहीं, शान्ति का ही शाश्वत आवास है।

मृत्यु पर विजय

सावित्री और सत्यवान की कहानी हिन्दू मात्र की जानी हुई है। सत्यवान के अवसान के बाद भी सावित्री ने अपने प्रेम के त्याग और विश्वास के तेज द्वारा सदा के लिये गये हुए को भी काल के कराल मुख से वापस लौटा लिया था। कवि ने सम्भवतः उसके मनोभावों को ही इन बहु परिचित पंक्तियों में प्रतिध्वनित किया था :

"O Death, Where is thy sting ?
O Grave, Where is thy victory ?
[ओ मृत्यु, तुम्हारा गरलदन्त कहाँ है ?
ओ चिरसमाधि, तुम्हारी विजय कहाँ है ?]

किन्तु यह कहानी सिर्फ़ कहानी नहीं है, वह एक परम-सत्य आध्यात्मिक अनुभव का परिचय है। यदि इस लोक से विदा लेने वाले के प्रति हमारा प्रेम सच्चा है तब फिर वियोग का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि सच्चा प्रेम असीम की पटभूमिका में ही प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति को देखने का अभ्यासी होता है। जीवन की पूर्ण राशि में जिसे हम बाक़ी कहकर हाय-हाय करते हैं, ऋषियों ने क्या उसी को प्रत्यय आत्मा का ऐश्वर्य कहकर नहीं घोषित किया है ?

किन्तु अपनी चेतना के प्यार को हम किस तरह असीम, अक्षय और पूर्ण की पटभूमिका में देख सकते हैं ? उसे किस प्रकार विराट पारिपार्श्विक दान कर सकते हैं ? उलझन यहीं से तो शुरू होती है। प्रतिदिन के जीवन के कामकाज में अपने सहयोगियों के साथ हम उनकी सत्ता के केवल परिवर्तनशील ऊपरी स्तर से ही अपना संपर्क रखते हैं, उसी को लेकर हमारा कारबार चलता है। धीरे-धीरे हम भूल जाते हैं कि प्यार करने वाला और प्यार पाने वाला—दोनों ही—"अमृतस्य पुत्राः" हैं! दोनों ही अक्षय हैं, अमर हैं। तभी मृत्यु आती है—मृत्यु जो देश और काल की भाषा में वियोग की बात सुनाया करती है—हमें याद दिलाने के लिये कि यह जो भूल जाने का आवरण है, यह जो अपनी सच्ची सत्ता को भुला देने की विडम्बना है—यही मिथ्या है, इसे ही भूल जाना होगा।

और ये जो दुःख के आँसू हैं वे सूर्य के ताप के समान ऊपर के कठिन आवरण को विगलित करने के लिये ही बह रहे हैं, जिससे भीतर छिपा हुआ सत्य मुक्त हो जाय, अपनी बन्धनहीन पूर्णता को प्राप्त हो।

सावित्री-सत्यवान की कहानी का आधुनिक संस्करण कविगुरु रवीन्द्रनाथ के जीवन में घटित हुआ था, जब उनका छोटा और सब से अधिक प्रिय एवं होनहार लड़का सोलह वर्ष की उम्र में ही सहसा चल बसा। अपने एक साथी के पास छुट्टियाँ बिताने वह गया था और वहीं सांघातिक रूप से बीमार पड़ गया। कवि उसकी शय्या के निकट तीन दिन तक रह सके। उसके अंत समय में कवि बाजू के कमरे में नीरव अंधकार के भीतर चुपचाप स्तब्ध होकर ध्यान करने लगे कि परम शांति के साथ वह मरणसागर को पार करके लोकांतर की यात्रा कर सके। ध्यान के भीतर से ही सहसा उन्हें जो उपलब्धि हुई उसे उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करता हूँ।

"हठात् मुझे एक समय ऐसा अनुभव हुआ मानो मेरा चित्त किसी ऐसे आकाश में उतराता हुआ पहुँच गया है जहाँ न अंधकार है न प्रकाश, केवल प्रशांत गांभीर्य है, चैतन्य का एक सीमाहीन सागर जिसमें लहरों का ज़रा-सा भी चांचल्य—हलका-सा भी शब्द नहीं है। मैंने अपने पुत्र की एक झलक देखी कि वह अनंत की गोद में सोया हुआ है और मैं चिल्लाकर पुकारने ही वाला था कि अब कोई भय नहीं है—वह संपूर्ण सुरक्षित है। मुझे ठीक उस पिता के समान लगा जिसने अपने बेटे को सागर पार भेज दिया है और ख़बर पाई है कि वह सब प्रकार निरापद भाव से अपने गंतव्य स्थल को पहुँच गया है—वहाँ सब प्रकार से सफलता लाभ कर रहा है!"

यह प्रेम ही है जो मृत्यु की रहस्यमय अज्ञात पहेली पर विजय प्राप्त करता है, जो यह जानता है कि अपने प्रियजनों के सामीप्य में ही उनकी रक्षा नहीं छिपी होती, इस सामीप्य को पार करके अज्ञात लोकांतर में ही उनकी सार्थकता उपलब्ध होती है। सच्चा प्रेम इस उपलब्धि में सहायक होता है। प्रेम में ऐसा ही जादू, ऐसा ही रहस्य, ऐसी ही अनोखी शक्ति होती है। हम क्यों न इसी परम प्रेम के अभिनंदन में गीत गायें?

शिक्षा में साहस

अभी उस रोज़ एक मित्र ने सवाल किया—'क्या आप आज भी शिक्षा को साहसपूर्ण प्रयोगों का कार्य ही समझते हैं?' इन पंक्तियों के लेखक ने निवेदन किया—'शिक्षा और है ही क्या? प्रयोगों में ही तो उसका निरन्तर परिचय है।' वास्तव में मनुष्य निरन्तर सत्य की खोज में बढ़ रहा है उसके व्याकुल प्राण आत्मा के सत्य को भी पाना चाहते हैं और सत्य की आत्मा को भी। इन्हीं दोनों पंखों पर उसके विकास की उड़ान तुलित होती है।

सत्य की आत्मा के समान मानव की आत्मा के भी दो पहलू हैं: व्यापक और व्यक्तिगत। फिर चमकते हुए हीरकखण्ड की तरह हर पहलू के और भी कितने ही पहलू हैं। इसीलिए व्यक्ति की जीवन-धार के अलग-अलग घाटों पर—और सत्य के क्रमिक विकास की अलग-अलग मंजिलों पर—ऊपर के अनगिनती पहलुओं में से कोई खास पहलू या कुछ खास रूप मनुष्य के दोनों रूपों को अपनी ओर आकर्षित किया करते हैं। एक में वह अपने-आप में पूरी इकाई होता है और दूसरे में समाज की बृहत्तर इकाई के निर्माण में सहायक सदस्य। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान युग में—और शायद सभी युगों में—शिक्षा के विकास का अर्थ 'नरनारायण' के साथ-साथ 'दरिद्रनारायण' की आराधना है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के अन्तर में विराजमान भगवान् के शुद्ध, पूर्ण, सर्वशक्तिमान रूप को लाभ करने के साथ-साथ दीन-दरिद्र के अन्तर में समाये हुए भगवान् की सेवा करना भी है।

क्या यह आराधना, यह सेवा, आत्मोपलब्धि की यह प्रक्रिया मनुष्य की ज़िन्दगी के किसी खास हिस्से को ही आलोकित किये रहेगी? क्या वह किसी खास तालीमी सिद्धान्त अथवा शिक्षा विषयक आदर्श-विशेष में ही

संकुचित हो जायगी ? या इसके विपरीत यह साधना जीवनव्यापिनी साधना होगी ? यही नहीं, इस साधना का चक्र तो एक जीवन में नहीं, शायद जन्मान्तर में ही जाकर पूरा होता है।

प्रायः ऐसा ही होता है कि जो साधक अपने अन्तर में अवस्थित नारायण की उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता है वह किसी हद तक अपने को सबसे विच्छिन्न कर लेता है। उस समय इसी अवस्था की पूरक अवस्था का विचार उसके लिए कुछ धुँधला हो उठता है और वह सर्वभूत में समाये हुए दरिद्र-नारायण के साथ अपने एकात्मबोध को किंचित् भूल-सा जाता है। यह आपातदृष्ट पारस्परिक विरोध शिक्षा की साधना में नये प्राण फूँक सकता है। आत्मा की सबसे सच्ची साध और प्रार्थना यही है कि मनुष्य व्याकुल होकर पुकारे—'मुझे कामना से करुणा की ओर ले जाओ।' कामना है अहंकार का एक रूप और करुणा है प्रेम की एक मधुर झाँकी। सुप्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ ने तो इसी करुणा एवं मैत्री को ही परम धर्म कहकर पुकारा है।

शिक्षा की इस उदार, साहसपूर्ण प्रगति को साधित करने लिए, शिक्षा के उद्देश्य, प्रेरणा और प्रयोजन में ही एक प्रकार के जीवट से कहीं ऊँची रहनी चाहिए। ज्ञान के प्रसार अथवा जानकारी के प्रचार में एक प्रकार का ऐसा फक्कड़ाना उत्साह होना चाहिए, जैसा पर्वत-शृंग पर चढ़नेवाले दुःसाहसी घुमक्कड़ों में होता है, जो चिरपुरातन और चिरनवीन गौरीशंकर के उच्चतम शिखर तक पहुँचने के लिए एक चोटी के बाद दूसरी तुषार-धवल चोटी को लाँघ चले जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो पाठ्य-पुस्तक उस स्प्रिंगवाले सोपान की तरह है, जिस पर पाँव रखकर चढ़नेवाला ज्ञात से अज्ञात की ओर उछाल मारकर बढ़ जाता है, या बच्चे की उस छोटी गाड़ी की तरह है, जिसे पकड़कर वह अपने पाँवों की गति को आजमाता हुआ लड़खड़ाने की सूरत से अपने पाँवों चलने की अवस्था को पहुँच जाता है। जब ऐसा होगा, तभी विद्यादायिनी सरस्वती की सच्ची आराधना

होगी। और तब हर विद्यालय उनके पुण्य चरणों के लिए उपयुक्त कमलासन बन सकेगा।

शिक्षा के जीवट का दूसरा पहलू शिक्षा में जीवट है; किन्तु इमारती लकड़ी से अधिक महत्व पेड़ को ही मिलना चाहिए। नवीन की आराधना में अपने को निरन्तर माँजते रहना किसी स्थिर तालीमी आदर्श की पुष्टि से बड़ी चीज़ है। सीमित सत्य से परे सीमाहीन और विचित्र सत्य की ओर बढ़ने में ही शिक्षा की असल सार्थकता है। जीवन में हो कि जीवन के सत्य प्रेम में, विद्या में हो अथवा ज्ञान में—सीमाहीन को सीमा में बाँधना, अथाह सागर को संकीर्ण घड़े में बन्द करने की चेष्टा करना शायद सबसे बड़ा पाप है।

सिनेमा और क़ब्रिस्तान

बम्बई के क्वीन्स रोड पर जो क़ब्रगाह है, उसकी चहारदीवारी पर आए-दिन शहर में चलने वाली सिनेमा की तसवीरों के इश्तहार चिपकाये जाते हैं। क्या इस घटना का कोई भीतरी अर्थ है—अर्थात् क्या सिनेमा और क़ब्रिस्तान में कोई अंतर्निहित संबंध है? ज़ाहिरा अर्थ तो कुछ भी नहीं है लेकिन इन्सान की चेतना में कहीं कोई स्तर ऐसा अवश्य है जहाँ ये दोनों कभी-कभी मिल बैठते हैं।

कहा जाता है कि सुख नाम की चीज़ चंचल होती है, वह टिकती नहीं। सिनेमा भी सुख की तलाश का एक रास्ता है जिसमें वर्त्तमान सभ्यता ने ख़ास कौशल अख़्तियार किया है। चुनाँचे क़ब्र और क़ब्रिस्तान के नियम सिनेमा पर भी लागू हैं।

एक और भी अर्थ में सिनेमा से क़ब्रिस्तान की याद आती है। मुल्क के एक मशहूर रिसर्च-इंस्टिट्यूट के अध्यक्ष महोदय ने एक रोज़ मज़ाक़-मज़ाक़ में कहा था कि सिनेमा का अर्थ 'सिन+मा' अर्थात् पापों की जननी है। और बाइबिल ने कहा ही है कि पाप का पारिश्रमिक मौत होती है। सिनेमा और मौत का यह नाता निरे बादरायण संबंध से कुछ अधिक गहरी चीज़ है।

तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सिनेमा सचमुच ही सात्त्विक जीवन की क़ब्र है?

दरअसल बात तो यह है कि पंडितों और मुल्लाओं की बात छोड़ देने पर भी देश में सुसंस्कृत लोगों की एक श्रेणी ऐसी अवश्य है जिसकी धारणा है कि भली ज़िंदगी बसर करने वाले के लिए सिनेमा की सैर फ़ायदेमन्द नहीं होती। उनकी दलील यह है कि सात्त्विक जीवन इन्द्रियगत पार्थिव सुखों से विमुक्त होता है, जब कि सिनेमा की फ़िल्में इन्हीं विषय-

गत सुखों से गले तक भरी रहती है। सिनेमा के शौक़ीन शायद इसे न मानें लेकिन इस बात में बहुत-कुछ सार है कि आजकल के अधिकांश स्नायविक विकारों और रोगों का मूल उन विकृत विचारों में है जिनसे सिनेमा जानेवाली भोली जनता के दिमाग़ भर उठते हैं। हकीम और मन के रोगों के विशेषज्ञ आपको आँकड़े देकर समझा सकते हैं कि चटपटी और चुलबुली सिनेमा की तसवीरें, हालीवुड के जादू, किस तरह आज के तरुण-सम्प्रदाय की प्राणशक्ति को घुन की तरह खा रहे हैं।

किशोरावस्था में चित्त पर ये सब दृश्य और विचार झकझोर देनेवाला प्रभाव पैदा करते हैं। सिनेमा के चित्रों में वे प्रेम-घृणा-क्रोध इत्यादि के तूफ़ान देखकर वापस लौटा करते हैं लेकिन उस आँधी में उड़कर उनका दामन जिन काँटों में उलझ जाता है, वहाँ वह अटका ही रह जाता है। उनका सरल और मधुर भाव-जगत् भीतर ही भीतर उथल-पुथल अनुभव किया करता है।

सुंदर और पवित्र जीवन का आधार मनुष्य के जीवन के केन्द्र में स्थित शांति है। वे सारी वृत्तियाँ जो इस शांत और संतुलित स्थिरता की रक्षा करती हैं, हममें अधिक से अधिक मात्रा में होनी चाहिए। जो इस शांति को झटके के साथ विचलित करनेवाले भाव हैं, जो केन्द्र से हमें उड़ाकर दूर ले जाते हैं, त्याज्य हैं। जो हमें संयत बनानेवाली प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें प्रश्रय देना चाहिए, जो विकेन्द्रीकरण करनेवाले विचार हैं उन्हें निर्वासन मिलना चाहिए। कच्ची उम्र में जब कि व्यक्तित्व तिल-तिल करके बन रहा है, जब कि नींव डाली जा रही है, आँधी-तूफ़ान विचलित करने वाली चीज़ें ही हैं। किशोर का मन बहुत सूक्ष्म होता है इसी से उसके लिए ख़तरा भी ज्यादा होता है। अगर सिनेमा का 'टॉनिक' जरूरी ही हो तो इस 'टॉनिक' की कुछ बूँदें ही काफ़ी होंगी—ख़ासा 'डोज़' लेना अनुचित और अस्वास्थ्यकर होगा।

शिक्षा-विशारदों की प्रधान शिकायत आजकल यही है कि स्कूल के लड़के-लड़कियाँ यौन-रहस्यों के बारे में उलटी दिशा से बहुत-सी ग़लत

जानकारियों से अपने मस्तिष्क को भर लेते हैं—उनके विषय में वे अत्यन्त उग्र रूप से आत्मचेतन हो उठते हैं। संयम से जिस शांत छन्द का आविर्भाव होता है वह उनमें नहीं मिलता। मौत को खूबसूरती उनमें देखने को नहीं मिलती। और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इसकी प्रधान ज़िम्मेवारी सिनेमा की 'सैक्स अपील' को है। आज की अधिकांश तसवीरें मनुष्य के निम्नस्तर की वृत्तियों को ही उकसाने या अपील करनेवाली होती हैं। यही ज्यादा चलती हैं और निर्माताओं की जेब भी भरती हैं।

यही नहीं, इसी से एक सामाजिक मसला भी संबद्ध है। विवाह के बारे में विकृत धारणाएँ, उसकी पवित्रता को नष्ट करनेवाले खयालात फैलते जा रहे हैं। दूसरी ओर विवाहित जीवन के उत्तरदायित्व से बचने की इच्छा प्रबल होती जा रही है। ये दोनों झुकाव अधिक अंशों में सिनेमा की ओर से ही आए हैं। इसी से कहने की इच्छा होती है कि वर्तमान समय में सिनेमा सात्विक जीवन को समाधि की ओर ले जा रहा है।

जो कुछ सुन्दर है, सुरुचिपूर्ण है, शिल्प की दृष्टि से कमनीय है, वह सिनेमा में सस्ता बना दिया जाता है। और फिर भी इसे कौन अस्वीकार करेगा कि आज की दुनिया में सिनेमा एक ताक़त है। क्या हम आशा करें कि एक तरफ़ सिनेमा के निर्माता जनता के प्रति, देश की बढ़ती हुई जवानी के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझेंगे और दूसरी तरफ़ जनता ख़ुद उनसे सुन्दर और सुरुचिपूर्ण तसवीरों की माँग करेगी ?

प्रीतम का प्यादा

उनकी उमर क़रीब-क़रीब ७० वर्ष की होगी जब मैं उनसे पहली बार अपने एक मित्र के घर पर लाहौर में मिला था। वे मेरे मित्र की पुत्री को सितार सिखाने आये थे। उस समय किसी कार्य के कारण लड़की बैठकख़ाने में नहीं आयी थी। मैंने कहा कि बच्ची को तो देरी हो रही है, इसलिये यदि आप असुविधा न समझें तो हमें एक गत सुनाने की कृपा करें। मेरे कहने के साथ ही वे बोल उठे कि बस लीजिये जनाब! खुशी से सुन लीजिये, और तब उन सितार के तारों को एक बार कस-कसा कर देखा और फिर उसे उठा लिया। उँगलियाँ तारों को छेड़ने लगीं और झंकार ने वातावरण में एक अजब मस्ती बिखेर दी। उनके गाने में एक अलौकिक सुर भरा हुआ था और हर एक झंकार के साथ जब-जब उनका सर घूमता था, लगता था कि मानो एक परवाना शमा के इर्द-गिर्द घूमता है।

गाना बन्द हुआ और सितार उनके दोनों हाथों ने नीचे रख दिया। मैं मन्त्र-मुग्ध की तरह उनके मुख-मण्डल को एक टक देख रहा था, जो किसी अलौकिक तेज से उज्ज्वल था। वे एक क्षण ही बाद एक बार मुस्कराये और तब मुझे ऐसा लगा कि उनकी वह मुसकान, किसी पूर्ण कमल-दल की अपूर्व प्राकृतिक शोभा है। जब मैंने उनके हाथों को आनन्द विह्वल, अश्रुपूर्ण नयनों से देख कर छुआ तब उनसे चंदन की सुगन्ध आने लगी। मैं नत मस्तक हो गया।

इतने में वह लड़की अपना सबक़ सीखने आ गयी। वे उसके आते ही बोले "बेटा, आज तुम्हारी छुट्टी रहेगी।" लड़की वापस अन्दर चली गयी और उन्होंने मुझसे कहा "जनाब! आपको आज मेरे ग़रीबख़ाने चलना पड़ेगा।" मेरे लिये यह एक वरदान था। मैंने तुरन्त ही कहा, "बड़ी ही खुशी से, जनाब!" पर एक शर्त है कि आप मुझे भी उस शमा को दिखावें, जिसने आपको परवाने की तरह पागल कर दिया है।

वे बोले—"बेटा! वह शमा तो तुम्हारे अन्दर पहले से ही जल रही है।" मैं बेसब्री से बोल उठा—"फिर मैं उसे क्यों नहीं देखता?"

वे शान्ति से एक मुसकान के साथ बोले—"धुआँ हट जाने दो। अंधकार को मिटने दो तब तुम देखोगे कि वह प्रकाश चाँद और सूरज से भी अधिक तेजोमय दिखेगा।"

"आपका यह अंधकार किस प्रकार दूर हुआ?"

कुछ ठहर कर वे बोले—बेटा इसका उत्तर अभी रहने दो। मेरी झोपड़ी में चलो। वहीं कह सकूँगा।"

आध मील तक हम मौन उस शहर की गलियों से गुजरते हुए एक खुले मैदान में पहुँचे। हमारे आगे एक पतली छोटी नदी आई। उसे किश्ती द्वारा पार कर हम दूसरे किनारे आ लगे। वहां से कुछ गज़ के फ़ासले पर ही एक झोपड़ी दिखलाई दी।

"यही है जनाब, मेरा ग़रीबख़ाना"—उन्होंने उस ओर अंगुलि-निर्देश किया।

हम झोपड़ी के अन्दर आ गये। झोपड़ी के अन्दर ज़मीन पर एक फटी हुई चटाई, कोने में एक टूटी हुई सुराही और नजदीक ही मिट्टी का गिलास दूसरे कोने में एक लालटेन और उसके ऊपर दीवाल पर एक माला लटकती मुझे दीख गई।

"आप तो थक गये होंगे?" फिर एक क्षण बाद बोले, "और क्या जल पीयेंगे?"

"नहीं जनाब शुक्रिया, मुझे तो शराबे-शौक़ पिलाइये," मैंने बैठते हुए कहा।

"आप किसका शौक़ करते हैं?" उन्होंने एक मुसकान के साथ पूछा।

मैंने कहा "शौक़ उस महबूब के दीदार का, जिसको देखकर आप परवाने की तरह पागल हो गये हैं।"

"क्यों जनाब?" वे हँसते हुए बोले, "फिर वही सवाल। ऐसा मालूम होता है कि आप मुझे नहीं छोड़ेंगे।"

"आखिर छोड़ ही कैसे दूँ, उसी के लिये तो यहाँ तक आया हूँ।"

"अच्छा तो सुन ही लें। मैं एक रियासत में २५ वर्ष दरबारी गवैया था। हर रोज़ राजा साहब का दरबार होता और मुझे उसमें सितार बजाना और गीत गाना होता। कभी-कभी जब वे मुझसे खुश हो जाते तब ख़िलअत भी बख्श देते। मैं बड़े आराम में था। लोग भी इज्ज़त करते रहते थे। लेकिन लगभग तीन चार वर्ष हुए एक दिन यों ही बैठा हुआ दरबार की बातें सोच रहा था। राजा साहब से मिले उस क़ीमती इनाम ने मुझे आनन्द में ला दिया था। लेकिन मैं पूरा-पूरा आनन्द का उपभोग नहीं कर पा रहा था। मन के अन्दर न जाने क्या घुस आया, जो हर समय एक उदासी भरने की कोशिश कर रहा था। न मालूम क्यों जब मैं आनन्दित होता हूँ, तब अन्दर बैठा कोई रोने लगता है। अनेक रातों मुझे इसका अनुभव हुआ और मेरे दिन यों बेचैनी से जाने लगे। मैं अपने आप से बराबर पूछा करता कि आख़िर यह रोना कैसा है, क्यों यह बेकली है।

"एक दिन सुबह उठा। उठ कर यों ही बैठा था कि न जाने कहाँ से किसी ने कहा 'आज राजा के दरबार में मत जाना। तुम्हें आज तो मेरे दरबार में आना होगा।" इस आवाज़ का मतलब मैं नहीं समझ सका। अरे, यह सब ख्याली ख्वाब है। यही मन ही मन सोचते मैं समय होते ही दरबारी पोशाक पहन दरबार में चला गया।

दरबार में राजा साहब ने कहा "जनाब उस्ताद साहब, आज वही मेरा पुराना गीत गाइये—

मेरी नैया कर दे पार,
साँई मेरी नैया कर दे पार।

'जैसा हुज़ूर का हुक्म' कह मैंने सर झुकाते हुए गाना शुरू किया। न मालूम कितनी देर तक गाता रहा। गाते-गाते मैं अपने ही को भूल गया। मुझे लग रहा था कि आज से पहले मैंने कभी भी यह गान नहीं गाया है। दरबार खतम होने पर आया; लेकिन मैं समय भी भूल चुका

था, समय का खयाल तो तब हुआ जब एक दरबारी ने कान में कहा कि "अब गाना बन्द करो; राजा साहब तख्त पर से उठने की तैयारी कर रहे हैं।

मेरा गाना बन्द हुआ। मन न जाने कैसा हो रहा था। मैं राजा साहब के नज़दीक, पाँव के पास गया और झुकते हुए बोला, 'हुजूर अब मुझे छुट्टी दे दी जाय।'

'आखिर क्यों उस्तादजी?' राजा साहब ने पूछा।

"मैंने उन्हें उसी तरह कहा "कल से आप के दरबार में मेरा गाना न हो सकेगा। मुझे कल से ही राजाओं के भी राजा के दरबार में गाने का हुक्म मिला है।" "पागल कहीं के" राजा साहब क्रोधित हो गये। दरबार जल्दी ख़तम हुआ।

"रात आई, मैं घर-द्वार सब कुछ छोड़ सिर्फ सितार ले वहाँ से चला आया। अब जब मन में आता, मैं गाता बजाता। दिन पर दिन गुजर जाते पर मुझे भोजन न मिलता लेकिन कभी शिकायत या शिकवा नहीं करता था। मेरे अन्दर एक ऐसा सुरूर पैदा हुआ जिससे दुनियाबी भूख—रोटी या रुपये की—बिलकुल मिट चली। गाते-बजाते मैं खुद मुग्ध होता और मेरे जिस्म का जर्रा-जर्रा आनन्द से भर जाता। अब अन्दर का रोना न था, वहाँ तो कोई बैठकर रात-दिन खिलखिलाया करता। मैं यों ही भटकता-भटकता इस नदी के किनारे आ गया। यहीं सामने जो दरख्त देखते हैं, उसी के नीचे रहा करता। वर्षा हो या गर्मी, जाड़ा हो या और कुछ, बस मेरा मन यहीं लग गया था। जब कभी कोई अल्लाह का बेली कुछ खाने को दे देता, तो खा लेता पर माँगता कभी नहीं। कुछ दिन बाद यहीं के किसानों ने मेरे लिये झोपड़ी बना दी और ढाई वर्ष से कोई न कोई अपनी बारी पर आकर दो रोटी और दो प्याज़ दे जाता है, पानी की सुराही भर जाता है और लालटेन में तेल रख जाता है। कभी कभी जब मैं इन रोटी लानेवालों के मुँह की ओर देखता हूँ, तो मुझे उनके भीतर वही रोशनी दीख पड़ती है, जिसे

मैंने राजा के दरबार में अन्तिम दिन देखा था, जब 'नैया कर दो पार' गाते-गाते मस्त हो उठा था।

"यह झोपड़ी मेरे महबूब का महल है। उसके और मेरे इश्क की बात क्या कहूँ, कैसे उसका वर्णन करूँ? कभी-कभी मेरे गान में या सितार बजाने में उसकी मुहब्बत की महक महसूस होती है।"

वे चुप हो गये। मैंने कुछ देर बाद पूछा "तो क्या उस राजाओं के राजा की ओर से मुझे भी कुछ हुक्म आयेगा?"

"ज़रूर। उसके हुक्म से ही एक प्यादा जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारी तलाश में है, जब वह तुम्हें इस दुनिया के मेले में पहचान लेगा तब खुदा का—राजा का—हुक्म देगा।

वर्षों गुजर गये हैं उनसे मिले। वे दिन न जाने कितने पीछे चले गये हैं। पर उसकी याद और उस प्यादे की प्रतीक्षा अब हो रही है। लेकिन प्रीतम का प्यादा अभी तक मेरे पास नहीं आया है। पर कभी-कभी यह भी मन में आ जाता है कि कहीं वह प्यादा मेरे सामने आकर और मेरे द्वारा स्वागत न पाने पर लौट तो नहीं गया। हो सकता है, मैंने उसे न पहचाना हो।

लेकिन आख़िर वह आया कैसे होगा? क्या उसका रूप होगा? या उसका रूप न होकर आवाज़ ही आवाज़ है, जो अंदर से उठती है और अंदर से ही अपने आने की सूचना देती है। लेकिन एक बार जब मैं उस पर विचारता हूँ, तब लगता है कि उसका प्रकाश सूरज जैसा होगा। वह उसी के जैसा विश्व-रूप होगा। और यदि वह वाणी है तब क्या उसकी वाणी आकाशव्यापी नहीं होगी? क्या उस विश्ववाणी की सत्ता इस जगत्-पर आकाश की तरह व्याप्त नहीं होगी? यह सब तो मन के प्रश्न हैं, इनका निर्णय मैं तो ख़ुद ही नहीं कर सका हूँ। मुझे तो बार-बार लगा करता है कि प्रीतम का प्यादा आकर चला गया है। और जब मैं इसकी कल्पना करता हूँ कि वह चला गया है, मेरी आँखों से आँसू निकलने

लगते हैं और मन उस समय न जाने किसकी प्रतीक्षा से निराश होकर गाने लगता है—

"सोया था दीवार तले,
जब आये तुम दरवाज़े।
नींद खुली नहिं, द्वार बन्द था,
लौट गये तुम जीवन नाथ हमारे।
नींद खुली तब सुनी तुम्हारे क़दमों की आवाज़,
जान लिया मैंने तुम आये थे मेरे दरवाज़े।

रात्रि में जब आकाश तारों से झलझला उठता है मैं अपनी कोठरी से बाहर ताकता रहता हूँ और प्रतिक्षण यही आशा करता हूँ कि प्रीतम का वह प्यादा आ रहा है। लेकिन आशा-निराशा में मेरे प्रतीक्षा के दिन चले जा रहे हैं। प्रियतम का प्यादा एक बार फिर लौट कर आ जाये। मेरे दरवाज़े के सामने से गुज़रे, कैसी भी उसकी पोशाक हो, सुनहरी या सुन्दर या मृत्यु से भी भयंकर—मैं उसका अपने सम्पूर्ण जीवन से प्रेम-पूर्वक स्वागत करूँ और प्रणाम करूँ। और उस समय उस आनन्द में लीन होकर मैं गा उठूँगा।

मेरे घर प्रीतम आया,
मेरे घर ठाकुर आया।
अपना महल छोड़कर मेरे घर में ठौर लगाया।
वह अनन्त अनुरागी, मेरा राग सुनन को आया।
वह ख़ुद मरम चितेरा मेरी छबि देखन को आया।
मेरे घर प्रीतम आया,
मेरे घर ठाकुर आया।

उत्सव-दर्शन

चाँदनी रात थी। आकाश एकदम स्वच्छ था। संसार रूपे की झीनी चादर ताने चुपचाप सो रहा था। अपने घर की सीढ़ियों पर तरुणी गायिका चुपचाप और अकेली बैठी हुई थी। जो कुछ सुरीला और रङ्गीन है, उसके साथ इस तरुणी के दिल में एक सहज और सुकुमार संवेदना थी। अचानक शीतकाल की उत्तरी हवा ने अपना पथ बदल दिया और अपनी अलस गति से दक्षिण की ओर से बहने लगी। वह प्राण-पूरक आनन्दमय ऋतुराज के आगमन की अग्रदूती थी! तरुणी ने उसके चञ्चल दोल और मदिर-गंध को तत्क्षण पहिचान लिया और वह गा उठी :—

"आओ, हे बसन्त, आओ!
सौन्दर्य का भी सौन्दर्य
और सीमाहीन की शोभा लेकर—
आओ, हे बसन्त, आओ—
अनन्त के आनन्दलोक में
उन्मुक्त कर दो हृदय के रुद्ध कपाट!
आओ, हे बसन्त, आओ!
उत्सव के अकूल आयोजन में
अपने-पराये, शत्रु-मित्र, पास और दूर—
के सब मिथ्या भेद—
डूब जाएँ—निश्चिन्ह होकर।
आओ, हे जाग्रत बसंत, आओ।"

घर के दीपक बुझ गए; गान थम गया; तरुणी विश्राम करने चली गई। उसके मुख पर स्निग्ध शांति थी और पाँवों में छन्द की लय। वह जैसे इस निखिल विश्व के साथ—शाश्वत के साथ—एकतान थी।

शिशिर की बूँद मानो चमकते हुए सिन्धु में मग्न हो गई थी। न जाने किस सुदूर की सुरभित श्वास बह रही थी, जिसमें दैनन्दित जीवन की संपूर्ण व्यथा और क्षुद्रता क्षण भर के लिए डूब गई। सहसा न जाने किस लोक से आकाश को परिपूर्ण करती हुई मेघमन्द्र ध्वनि उठी—'शान्तं शिवं अद्वैतम्'! शांति हो, मङ्गल हो, हृदय से हृदय का मिलन हो!

यदि प्रकृति के विशाल प्राङ्गण में शत-शत पुरुषों और तृण, गुल्म, लताओं के भीतर से बसंत अपना यह आध्यात्मिक संदेसा लेकर आता है, तब अवश्य ही हमारे प्रत्येक उत्सव और त्यौहार के भीतर भी कुछ-न कुछ अर्थ और कोई-न-कोई संदेशा रहता ही होगा। प्रकृति और मानव क्या एक ही जीवन-ढाल के दो पहलू नहीं हैं?

तब हमारे उत्सवों की निगूढ़ आत्मा—बाह्य देह नहीं—क्या है? मनुष्य के अन्तर में जो कुछ उसका सर्व श्रेष्ठ है उसके आधार पर मानव-मानव के बीच बन्धुत्व का सेतु निर्माण करना—यही है। और प्रेम के अतिरिक्त अन्य कौन-सी वस्तु हमारी सर्वश्रेष्ठ संपद कहला सकती है? हमारे भीतर जो कुछ उदार है, जो शाहाना है, जो रोजमर्रा की लुब्धता अथवा कृपण चेष्टा के कहीं परे है, उसी को उत्सव आकर जगा देता है। रोज हम प्राप्ति की नीति स्वीकार करते हैं; किंतु इस दिन हमारी वृत्ति त्याग की होती है। जिस क्षण हम अपना संचित वैभव—चाँदी के टुकड़े हों या आत्मा का धन-लुटाते हैं, चाहे वह कितने ही संकुचित पैमाने पर क्यों न हो, हम उस क्षण विधाता के समकक्षी हो उठते हैं। उस समय हमारी सतर्क दृष्टि तराजू की डण्डी पर ही नहीं रहती। ऐसे क्षण क्या हमें इसी बात का ज्ञान कराने नहीं आते कि यदि भगवान् को पाना हो, तो स्वयं भी भगवान् बनना होगा; वैसा ही उन्मुक्त उदार, उतना ही अकुण्ठ दानी?

केवल यही नहीं। उत्सव के दिन (और उत्सव के दिन हमारे सम्मिलित जीवन के तिथि-पत्र में गाढ़ी लाल स्याही से खूब स्पष्ट ही अंकित रहते हैं) हमारे परिचय और अभिज्ञता की सीमाएँ फैलकर बड़ी हो जाती

हैं। मैत्री का घेरा विस्तृत भी होता है, गहरा भी। हमें इस सत्य की अधिकाधिक उपलब्धि हो चलती है कि हमारी आत्मा में ही प्रेम की अक्षय निधि संचित है। इस अन्तरालवर्तिनी संपदा का बोध करके, उसके दर्शन की मदिरा से बेसुध होकर हम अपनी अंतर की मानवता को पहचान पाते हैं और आनन्द में मस्त होकर नीरव किंतु निविड़ गान गा उठते हैं—'मानव मानव इसीलिए है।'

प्रभु ईसा ने कहा—'मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं है,' बात नितांत सच्ची है। इसकी सच्चाई का एक ताजा प्रमाण इन पंक्तियों के लेखक को अभी हाल में मिला, जब कि वह पास ही के एक दुर्भिक्ष-पीड़ित गाँव में था। अवसर था "नवान्न" का। "कैसा मज़ाक है"—एक तार्किक मित्र कहने लगे, घर में अन्न का एक दाना नहीं है और मनाने जा रहे हैं नवान्न! आदमी भी किस क़दर युक्तिशून्य होता है!" जो हो, गाँव के निवासी—स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध—सभी चार दिन तक गीत और नृत्य का अटूट उत्सव मनाते रहे। ये चार दिन वे अपनी नग्न कंगाली भूलकर प्राणों के उस लोक में ले गए थे, जहाँ भूख, प्यास और अभाव मनुष्य को पराजित नहीं कर पाते। रोटी इस देह को पुष्ट कर सकती है, किन्तु मनुष्य की आत्मा अपार आनन्द का ही पान करके सशक्त और समाहित होती है। कदाचित् इसीलिए भागीरथी के पुण्य तट पर पुण्यकाल के ऋषि का आनन्दोदात्त स्वर फूट पड़ा था—"आनन्द से ही इस विपुल सृष्टि का जन्म है; आनन्द ही इसकी स्थिति है!" अतीत के नेपो-लियन अथवा समय के विश्व-विजेता की सेना चाहे भूखे पेट एक क़दम भी न बढ़ सके, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि कलाकारों की विराट वाहिनी युग-युग में पेट को पीठ से मिलाए शांति के उत्तुंग शिखर की ओर अक्लांत बढ़ती रही है। भूख से तड़पते हुए कोटि-कोटि मानवों की जीवन-नैया को इन्हीं अपराजय शिल्पियों के आशा और विश्वास ने ध्रुव नक्षत्र के समान तरंग संकुल सागर में भी साहस और शक्ति दी है।

इसी कारण उत्सव हमारे जीवन की प्रयोगशालाएँ हैं। यहाँ हम आनन्द की वीथिका में से गुजरते हुए सीमित जीवन को विराट बनाने का प्रयोग करेंगे। बिखरे हुए मानवों को ऐक्य की सुकुमार पर सुदृढ़ डोर में बांध देंगे। उत्सव विश्व के साथ एक हो जाने की चेष्टा है। उन्मुक्त आनन्द ही इसकी आत्मा है। उत्सव के समय जो अकेला रहना चाहता है, वह उसके उद्देश्य को तो व्यर्थ करता ही है, अपनी भी क्षति करता है। निखिल सृष्टि को आनन्द के रस से सिञ्चित करने वाली सजल धारा से अपने को विच्छिन्न करने से हमारी ही हानि होगी। यदि ऐसे लोग सचमुच इस दुनिया में हैं, तो उन्हें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस वाणी का स्मरण दिलाने की इच्छा होती है :—

—"जो शिशु राजकुमारों जैसी सज्जा से आवेष्टित है, जिसके सुकुमार गले को रत्नजटित मणिमाला घेरे हुए है, वह अपने खेल का सारा आनन्द खो बैठता है। उसकी बहुमूल्य वेशभूषा पग-पग पर बाधा देती है।

—इस भय से कि कहीं उसके वस्त्र उलझ कर फट न जायें अथवा धूल से मलिन न हो जायें, वह साथियों से दूर जा बैठता है; उसका चपल अंग-सञ्चालन भी जड़ हो जाता है।

—माँ, यदि तुम्हारी यह परम मूल्यवान् सज्जा, हमें धरती की निपट-पावन, करुण सुन्दर धूलि से वंचित रखती है, यदि मानवों के विराट-उत्सव आयोजन में हमें प्रवेश नहीं करने देती, तो यह नितान्त व्यर्थ है।"

—'गीताञ्जलि'

मैं रोया और मैं हँसा

७ अगस्त १९४१ को मेरे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब इस जगत् से चले गये तो सारी दुनिया रोई और मैं भी रोया। रोना भी तो एक पूजा की पद्धति है क्योंकि जिस तरह से भी मनुष्य अपने भावों को प्रकाशित करता है, उसको मेरी राय में पूजा का नाम देना कुछ ज्यादती न होगी। अगर मैं अपनी कुटिया में बैठकर इसलिए रोया कि ये मेरी आँखें उनकी सुन्दर मूर्ति को फिर नहीं देख सकेंगी, और न ही मेरे हाथ उनके कमल जैसे चरणों को छू सकेंगे, तो इसमें मैंने अपने प्रेम का अर्घ्य उनके सामने रख दिया।

लेकिन कई और कारण थे, जिनके लिए मैं रोया। जब उनका श्वास बन्द हो गया तो उनकी मृत देह को अर्थी पर फूलों और चंदन से सजाया जा रहा था। उस वक्त उनके मकान के बाहर जो लोग, जिनकी संख्या हजारों की होगी, खड़े हुए थे, उनमें से एक दल उस कमरे में, जहाँ यह अर्थी रखी हुई थी, जोर करके घुस गया, और गुरुदेव के निकट रिश्तेदारों और मित्रों के हाथ से वह अर्थी लेकर बाहर आ गया। जिस तरह से उन्होंने इस मृत शरीर को, जो कुछ ही मिनट पहले तक सजीव था, एक के हाथ से दूसरे के हाथ में फेंका तो हम में से कइयों का दिल बड़ा दुखी हुआ। "शरीर से और खास कर वृद्ध शरीर से क्या मोह लगाना जी!"—ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़े। लेकिन मनुष्य जब किसी को प्रेम करता है, तो वह प्रेम सर्वाङ्ग होता है। इसलिए शरीर का भी प्रेमीजन आदर करते हैं। दूसरी बात, जब अर्थी को रास्ते पर ले जाया जा रहा था, तो एक-दो दफा सैकड़ों लोगों ने जोर से तालियाँ दीं। इससे भी हमें दुख हुआ, क्योंकि तालियाँ देना तो कोई शोक प्रकाश करने की पद्धति नहीं है। जब कहा गया कि ऐसा नहीं होना चाहिए, तो किसी ने

कहा यह तालियाँ तो हम इसलिए पीट रहे हैं कि हम बताना चाहते हैं कि कवि रवीन्द्रनाथ जैसे महान् व्यक्ति को मौत कभी जय नहीं कर सकती। लेकिन मेरी तसल्ली तो इस दार्शनिक दलील से न हुई, मेरा दुख तो और भी अधिक हो गया।

मैंने देखा कि अर्थी को लेकर खींचतान करने वाले और तालियाँ पीटनेवाले जो थे, उनमें एक बड़ी तादाद कॉलेजों के विद्यार्थियों की मालूम होती थी। अगर वे सचमुच अपने दिलों में ऐसा विश्वास रख सकते कि शरीर से प्रेम करना तो मोह या माया है, और कवि रवीन्द्रनाथ जैसे अध्यात्मिक जीवन का एक ऊँचे दर्जे का पुजारी मृत्यु को वश में कर सकता है, तो मेरे ख़्याल में इन दोनों सत्यों का प्रमाण उनको अपने शान्तिमय वातावरण से देना चाहिए था। शान्तिनिकेतन की आत्मा तो शान्ति को पसन्द करती थी या संगीत को। इसलिए अगर शान्तिमय वातावरण से नहीं, तो गुरुदेव के गीतों से ही अर्थी का आदर करते।

एक मिनट के लिए अगर हम ख्याल करें कि यदि गुरुदेव की मृत्यु विदेश में—इङ्गलैण्ड या अमरीका में होती, तो वहाँ के लोग किस गम्भीर शान्ति से अर्थी को स्मशान तक पहुँचा देते। ऐसा मालूम होता है कि हमारे चरित्र में संयम या छन्द की कमी है। क्या इस कमी को पूरा करना हमारे स्कूल और कॉलेजों के शिक्षकों का धर्म नहीं है!

अगर कोई कहे कि ७ अगस्त को कलकत्ते के लोग शोकमय प्रेम से पागल हो गये, तो भी समाज या सामाजिक संस्थाओं को उचित था कि लोगों को संयमित रूप से संगठित करके स्मशान की तरफ ले जाते। लेकिन उनकी भी कौन सुनता; जब हमारे लोगों में अपने नेताओं या समाज-सेवकों के इशारों या आदेशों को समझने या उन पर अमल करने की आदत पहले से ही न पड़ी हो।

स्मशान में पहुँचने के बाद जब गुरुदेव की मृत देह चिता पर रख दी गई, तो किस असावधानी से लोगों ने बार-बार चिता तोड़ डाली, यह दृश्य देखकर भी कइयों को दुख हुआ। लेकिन दुख के आँसू कमल के

रूप में बदल गये, जब मैंने देखा कि चिता के आस-पास जो लोग खड़े हुए थे, उनकी दौड़-धूप के कारण उनके पावों से जो कीचड़ उछली (क्योंकि उस वक्त बहुत बारिश हुई थी) उसका थोड़ा अंश गुरुदेव के माथे पर पड़ा। वह दूर से एक तिलक की तरह मालूम होता था। फिर मुझे यकायक याद आया कि एक दफा गुरुदेव ने दो-एक मित्रों से कहा था कि श्वास बंद होने के बाद जब उनकी मृत देह को अग्निमाता की गोद में दिया जाय, तो पहले उनके माथे पर मिट्टी का तिलक जरूर किया जाए। उनकी वह इच्छा पृथ्वी माता ने पूरी की और अपने हाथ से उनको तिलक दिया।

गुरुदेव इस धरती को बहुत प्यार करते थे, इसीलिए तो उनकी कविताओं और गीतों में उसके वैचित्र्यपूर्ण सौंदर्य का बारंबार वर्णन पाया जाता है। उनके माथे पर अगर पृथ्वी माता ने तिलक दिया, तो यह बिलकुल उपयुक्त ही था। वह तिलक था गुरुदेव के प्रकृति को प्रेम से जय करने का, और इसमें भारतवर्ष की संस्कृति का मूल-तत्त्व पाया जाता है। उनके शरीर को जब धरती माता ने वापस अपनी गोद में ले लिया, तो अपने ऐसे प्रेमी पुत्र को तिलक देते समय उसने शायद ऐसा भी कहा हो—"पुत्र! दिग्विजय करके वापस आ गये? तुम बहुत थक गये होगे, इसलिए चलो बेटा, कुछ देर के लिए विश्राम कर लो।"

ऐसा विचार जब मुझे आया तो मैं हँसा। क्योंकि मैंने समझ लिया कि मृत्यु तो स्नेहमयी माता के समान है और स्नेहमयी माता से भी क्या कभी कोई डरता है? इस तरह मैं रोया और मैं हँसा। यही तो जीवन की लीला है। मुझे याद पड़ता है, इस वक्त प्रभु के प्रेम में मस्त बंगाल के एक फकीर का वह गीत, जो मैंने तक़रीबन २० वर्ष पहले शान्तिनिकेतन के नजदीक एक रास्ते पर सुना था। मूल गीत तो बँगला में था, जो मुझे पूरी तरह से याद नहीं, लेकिन उसका भाव यह है :—

"मेरे प्रियतम! आज मैं तुम से एक प्रश्न पूछूँ? उसका उत्तर दोगे न? मैं सारा जीवन तेरी तलाश में रोता रहा। मैंने हजारों मोतियों जैसे

बड़े और चमकते आँसू बहाये हैं। वे सब मोती कहाँ गये ? तूने ही चोरी किये होंगे—तूने मेरा दिल भी चुराया और मेरे दिल का धन भी। मैं अब तुझ से न दिल माँगता हूँ, न अपने दिल का धन। मैं सिर्फ जानना चाहता हूँ कि तू मुझे बता दे वे मेरे आँसू कहाँ गये ?"

प्रियतम ने जवाब दिया—'आ, तुझको बताऊँ तेरे आँसुओं को लेकर मैंने क्या किया। लेकिन तुझे मेरे बागीचे में आना होगा। मेरे बागीचे में जो इतने सुन्दर खिले हुए कमल तू देखता है, उन सबका बीज तेरे ही आँसू तो हैं।"

धन्य है यह जीवन का रोना और धन्य है जीवन का हँसना।

आधुनिक युग का एक पैग़म्बर

अपने चकाचौंध कर देने वाले वैभव और प्राचुर्य को लेकर भी वर्तमान समाज आज सुखी नहीं है—यह बात सभी स्वीकार करते हैं। नये सिरे से इसकी सत्यता प्रमाणित करने की ज़रूरत नहीं। हो सकता है, हमारे आर्थिक अथवा जातिगत सम्बन्धों का आधार अन्यायमूलक होने से ही हम आज दुःखी हैं। किन्तु इसका सच्चा निदान आज से वर्षों पहले हमारे युग के सबसे महान् सन्देशवाहक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन शब्दों में हमारे सामने प्रस्तुत किया था :—

"आधुनिक समाज में अविच्छिन्न समग्रता का आदर्श आज निर्बल हो गया है इसीलिए उसके विभिन्न अंग आज खण्ड-खण्ड होकर अपने मूलरूप को अपनी शक्तिमूलक प्रकृति को—ही प्रकाशित कर रहे हैं। श्रम एक शक्ति है, पूँजी भी शक्ति है, राजा-प्रजा, पुरुष-नारी सभी ऐसी ही शक्तियाँ हैं।"

समाज अंकगणित के जोड़-बाकी वाले नियम पर तो खड़ा नहीं है, उस नियम के अनुसार उसका आकार छोटा बड़ा नहीं होता। वह केवल नाना [illegible], प्राणहीन समूह मात्र नहीं है; वह तो प्राणों के आभ्यन्तरिक विकास का परिचय है। जीवन और प्राण प्रकाशित होकर समाज का संगठन करते हैं। इसी कारण समाज की आत्मा पर एक 'सीमा-हीन व्यक्तित्व' (Infinite Person) की छाप होनी ही चाहिए। तभी उसकी प्रकृति में एक [illegible], विशिष्टरूप भाव आ सकेगा। इस छाप के द्वारा समाज अपनी नुकीली तीक्ष्णताओं और विकलताओं का परिहार करके अपने रूप को गोल और सुन्दर कर पाता है। उसकी आकांक्षाएँ और प्रचेष्टाएँ इसी तरह एक हो पाती हैं। आज मानव और मानव को

प्रेम और मैत्री द्वारा जीवन्त प्राणी न समझ कर जो राजनैतिक शतरंज के तख्ते पर निर्जीव मोहरे के रूप में देखा जा रहा है, उसका कारण विज्ञान की एक प्रमुख मान्यता है। विज्ञान ने घोषित किया है कि मानव समाज का ध्येय और उसका भाग्य एक निर्मम निर्वैयक्तिक शक्ति के हाथों बन रहा है जिसके अकरुण अंधपाश से किसी की निष्कृति नहीं मिल सकती।

ऐसी दशा में संसार को अस्त-व्यस्त और विभ्रम विमूढ़ देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। जब तक हम अपने भाइयों के भीतर की मानवीयता को आदर देना नहीं सीखते, तब तक मानो आदिकाल के पुराने और अन्धकारमय जङ्गल में ठीक बर्बरों के ही समान रह रहे हैं। 'सर्वसत्तम को ही जीवित रहने का अधिकार है'—यह रक्त-पिपासु फ़िलासफ़ी हमें प्रेरित करती रहेगी। इसी कारण यद्यपि विज्ञान ने आकाश-पाताल को एक कर दिया है, असीम को भी माप लिया है, सुदूर स्थित देश-विदेशों को हमारे बाजू में रहने वाला पड़ोसी साबित कर दिया है, फिर भी "मनुष्य के इस मिलन को भगवान् का आशीर्वाद नहीं मिला।"

आज के योरोप की ओर ही देखिए—मुर्गों की लड़ाई के मैदान जैसा दीख रहा है योरोप! एक ओर शक्ति-सत्ता के मद में मत्त राजनैतिकों की दल-बन्दियाँ हैं, दूसरी ओर शांतिकामी मनुष्यों की टुकड़ियाँ हैं। सबसे दयनीय बात यह है कि इन दलों में से किसी के भी पास "वह तीसरी आँख नहीं है जिसके द्वारा वे उन महाशक्तिशाली, अदृश्य हाथों को देख पाते जो चुपचाप आकर अनाथों और हतभागों के कम्पित हाथों को थाम लेते हैं और उपयुक्त समय की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं।"

क्या आज वक्त नहीं आ गया है कि हमारे राजनैतिक नेतागण और समाज-परिचालक अन्त में इस सत्य का अनुभव करें कि रचनात्मक शान्ति सृजनात्मक सुव्यवस्था का आधार ज्ञानपूर्वक मनुष्य के अन्तर में जाग्रत रहने वाली आध्यात्मिक सत्ता और अखण्ड एकता पर ही खड़ा हो सकता है? 'अहंकार' तथा 'अपहरण'—इन यमज भाइयों के हृदय में जो ज्वालामुखी सुलग रही है—उसकी ओर क्या अब भी उनकी दृष्टि नहीं

जाएगी ? यदि वे इस बात को नहीं समझते, तो उन्हें और भी बड़ी ख़ूनी लड़ाइयों के लिए—यहाँ तक कि आधुनिक सभ्यता के ध्वंस के लिए—तैयार हो जाना चाहिए। कवि के शब्दों में :—

"सशक्त के लिए निर्बल और अशक्त उसी प्रकार ख़तरनाक हैं जिस प्रकार हाथी के लिए निरीह बालू। वे प्रगति में सहायक नहीं होते क्योंकि वे विरोध नहीं करते। वे केवल पतन को नीचे उतार लाते हैं।"

अतएव विभीषिका से सावधान !

सूफ़ियों की संगत में

(१)

मेरे एक दोस्त के यहाँ एक दफ़ा एक सूफ़ी मेहमान ठहरे हुए थे। उनके बारे में मैंने ऐसा सुना था कि चालीस बरस तक उन्होंने एक जंगल में एक दरख़्त के नीचे रह कर ख़ामोशी की साधना की थी। एक दिन उन पर प्रभु की कृपा हुई और उनकी अन्दर की आँखें और उनकी दिल की गाँठें सब खुल गईं। इसलिए जब कभी उनसे कोई पूछता—"साहबे मन ! आप अपनी साधना का मन्तर तो बताइये।" तो आप जवाब में फ़रमाते—"अन्दर और बाहर से चुप रहने की कोशिश करो। जब तुम चुप रहना सीख जाओगे तो वह जो हर जगह मौजूद है, बाहर और भीतर भी, बोलना शुरू करेगा। अब तो तुम उसे बोलने का एक मौक़ा तक नहीं देते।"

एक शाम मैं उन्हीं सूफ़ी साहब से मिलने गया। आप हुक्क़ा पी रहे थे। आपके इर्द-गिर्द फ़रश पर एक हिन्दू, एक मुसलमान, एक पारसी और एक ईसाई साहबान बैठे हुए थे। सूफ़ी साहब की आँखें बन्द थीं। मगर उनसे जो मिलने आये थे उनकी आँखें खुली थीं और सूफ़ी साहब के चमकते चेहरे जमी हुई थीं।

एकाएक बरसात होने लगी मगर कुछ देर के बाद बरसात रुक गई तब सूफ़ी साहब ने अपनी आँखें खोलीं और सब पर अपनी करम-कृपा की किरन डाल कर बोलने लगे—"अभी ही बरसात पड़ी थी। यह तो मालिक की दया की बरसात थी। किसी समन्दर के किनारे पर बरसों से जो एक सीप बरसात के एक क़तरे के इन्तज़ार में था आज उसके दिल की मुराद पूरी हुई होगी। बरसात का एक क़तरा उसके मुँह में पड़ा होगा और वह अब एक मोती बन गया होगा। लेकिन हम

सब पर मालिक की दया की बरसात कब पड़ेगी ? मगर पड़े भी कैसे क्योंकि हम सारा दिन ऐसी दौड़-धूप में लगे रहते हैं कि हमें चुपचाप बैठकर इन्तजार करना आता ही नहीं और न ऐसा करने की कभी ख्वाहिश ही होती है। खुदावन्द-ताला से दुआ करना यानी खुदावन्द-ताला का इन्तजार करना है। मगर दुआ भी तो लोग करना नहीं चाहते वह तो काम के क़ैदखाने में या तो बन्द रहते हैं और नहीं तो दाम में फँसे रहते हैं।"

इतना कहकर सूफी साहब की आँखें फिर बन्द होगईं। बंद होगईं ? नहीं नहीं, अपने दिलबर के दीदार के लिए वे खुल गईं क्योंकि दिलबर को तो सिर्फ बन्द आँखों से ही देखा जाता है न ! ऐसा है रूहानी जिन्दगी का करिश्मा।

(२)

"यह लगन आपकी प्रभु से कब की लगी हुई है, भाई साहब ?" मैंने अपने साथी से, जो मेरे साथ रेल में सफ़र कर रहे थे, पूछा।

"तक़रीबन तीस बरस से।" उन्होंने जवाब दिया।

"और इस रास्ते पर पहले आपको कौन लाया ?" मैंने फिर उनसे पूछा।

"जवाब मिला—"मेरा सात बरस का लड़का।"

"वह कैसे, भाई साहब ?"

"तो सुन लो मेरी प्रभु से 'प्रेम सगाई' की कहानी।

"आज से चालीस बरस पहले मैं एक प्रोफेसर था। मुझे अपने इल्म पर बड़ा ही घमण्ड था और शास्त्रार्थ का तो मुझे एक खास शौक था। औरों को दलीलबाज़ी में किस तरह से हरा दूं इसी फ़िक्र में मैं दिन-रात रहता था। एक दफ़ा हमारे शहर में एक बड़े विद्वान् आये। उनसे आम लोगों के सामने मैंने 'ईश्वर है या नहीं' इस मज़मून पर दलील छेड़ी। आखिर मैं बहस में उनसे जीत गया। लोगों में मेरी वाह-वाह होने लगी

और मेरे ग़रूर की तो कोई हद ही न रही, यहाँ तक कि मैंने अपने घर के बाहर के दरवाज़े पर बड़े अक्षरों में यह शब्द लिखवा दिये—

GOD IS NOWHERE

यानी ईश्वर कहीं भी नहीं है।

'इसके बाद मैं अपनी नास्तिकता के नशे में रात-दिन चूर रहने लगा।

'इतने में मेरे घर में एक लड़का पैदा हुआ। मगर उसके पैदा होने से भी मेरे दिल में प्रभु का या उसकी कृपा का रत्ती भर भी ख्याल न आया। वह जब साढ़े पाँच बरस का हुआ तो मैंने उसे एक अँग्रेज़ी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा। आहिस्ता-आहिस्ता वह अँग्रेज़ी के कुछ छोटे-छोटे फ़िकरे पढ़ने लगा।

'एक दिन जब वह और मैं शाम को सैर करके घर वापस आये तो वह घर में दाखिल होने की जगह अचानक दरवाज़े के बाहर खड़ा हो गया और जो शब्द उस पर अंग्रेजी में लिखे हुए थे उन्हें चुपचाप पढ़ने लगा। फिर मेरी तरफ देखकर कहने लगा—

"पिताजी, मैं बताऊँ दरवाजे पर क्या लिखा हुआ है?"

"अगर बता सकते हो तो बताओ, बेटा!" मैंने जबाब दिया।

"फिर वह शब्दों को एक-एक करके पढ़ने लगा। उसने उन्हें इस तरह पढ़ा—

GOD IS NOW HERE

यानी ईश्वर अब यहीं ही है।

"मालूम नहीं क्यों, अपने बेटे को इन शब्दों को इस तरह पढ़ते देखकर मेरे सारे जिस्म में एक किस्म की बिजली दौड़ उठी और मेरे मुँह से अपने आप यह शब्द निकल पड़े—"बात तो बिलकुल सही है।' उस वक्त से मुझे एक किस्म की बेचैनी का बुखार चढ़ गया और सारी रात उस बुखार में मैं पड़ा रहा। सुबह हुई, अभी घर के लोग सोये हुए ही थे कि मैंने अपने बाहर के दरवाजे पर जो शब्द लिखे हुए थे उन्हें जिस

तरह मेरे बेटे ने पढ़ा था, सुधार दिया। और फिर घर से बाहर निकल पड़ा बरसों तक एकांत में दुनिया से दूर रहा और जब दिल ने पूरी-पूरी गवाही दी कि ईश्वर है और हर जगह है तब मैं एकान्त से बाहर निकल कर फिर दुनिया में वापस आया और आजकल जब कभी भी कोई मौक़ा मिलता है तो दुनिया के लोगों से 'प्रभु है' ऐसी बातें करता हूँ, और हमेशा प्रभु के प्रेम का गीत गाता रहता हूँ।"

तब जिस स्टेशन पर उन्हें उतरना था, वहाँ गाड़ी आ पहुँची, और वे अपनी जगह से उठकर गाड़ी के बाहर निकले। मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और कहा—"बेटा, तुम्हें भी प्रभु को पहचानने की बेसबरी और बेचैनी का बुख़ार जल्दी ही और ज़ोर से चढ़े।"

यह उनका आशीर्वाद कब फलेगा, यह तो मैं नहीं कह सकता, हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि उनका यह आशीर्वाद मैं अपने जीवन की एक बहुत बड़ी और क़ीमती बख़्शिश समझता हूँ।

(३)

आधी रात का वक्त था। सारी दुनिया सोई हुई थी। सिर्फ़ आसमान के तारे और प्रभु के प्यारे जाग रहे थे। एक ऐसा ही प्रभु का प्यारा एक दरख़्त के नीचे अपना मुँह अपने घुटनों के बीच दबाकर बैठा हुआ था। जब क़रीब-क़रीब दो घंटे गुजर चुके तो उसने अपना सिर ऊँचा किया और अपना इकतारा, जो उसके पास ही पड़ा हुआ था, उठाकर उसके साथ कुछ गाने लगा और नाचने भी लगा। उसके गाने में मिठास तो थी ही, पर एक चुम्बक जैसा असर भी था।

मैं कुछ देर तक उसका गीत सुनता रहा। आहिस्ता-आहिस्ता उसका मतलब क्या है, मुझे मालूम पड़ा। उस गीत का मतलब कुछ इस तरह का था—

"प्रभु, आज मैं तुमसे एक सवाल पूछता हूँ। उसका जवाब तुम्हें

देना ही होगा। और अगर उसका जवाब मुझे तुमने न दिया तो फिर तुम्हारी और मेरी दोस्ती में कुछ फ़रक़ आ जाने का डर है।

मेरा सवाल यह है। मैंने अपनी ज़िन्दगी में निराश होकर सैकड़ों आँसू बहाये हैं। अब तुम मुझे बताओ कि मेरे वे आँसू कहाँ गए। क्या वे सिर्फ़ मिट्टी में ही मिल गए?"

(प्रभु सवाल का जवाब देते हैं) "इससे पहिले कि मैं तुम्हें बताऊँ कि तुम्हारे आँसू कहाँ गए, तुम्हें मेरी तरफ़ आना होगा—जहाँ मैं खड़ा हूँ। और उस तरफ़ जहाँ तुम अब खड़े हो और अपना सवाल पूछ रहे हो—नज़र करनी होगी। हाँ, अब कहो, क्या तुम्हें अपने आँसू कहीं नज़र आते हैं?"

"नहीं, मुझे तो आँसुओं के बदले कुछ कमल के फूल नज़र आते हैं।"

तो बस अब तुम्हें तसल्ली हो गई कि तुम्हारे आँसू कहाँ गए और उनका क्या हुआ?"

"हाँ, प्रभु, अब मैं समझा। तुम कोई ऐसी कीमिया जानते हो जिससे निराशा को आशा में बदल देते हो।"

तब उस प्रभु के प्यारे ने अपना गीत गाना और नाचना बन्द किया। तारों ने अपनी चौकीदारी पूरी की और अपने घरों को वापस चले गए। मैं भी अपनी झोपड़ी की तरफ़ हो लिया। अभी मैं रास्ते में ही था कि मुझे अंग्रेजी की एक कहावत याद आई। और जब तक मैं अपनी झोपड़ी में न दाख़िल हुआ, तब तक वह कहावत मेरे कानों में गूँजती रही—

"मेन्स डिसएप्वाइन्टमेन्ट इज़ गॉड्स एप्वाइन्टमेन्ट।" यानी—

जब कभी इनसान होता है निरास
तो समझ ले वो प्रभु है उसके पास

(४)

एक दफ़ा समुन्दर के किनारे मैं अकेला सैर कर रहा था। रात बहुत बीत चुकी थी। क़रीब-क़रीब सब के सब लोग, जो वहाँ सैर करनेको आ

थे, अपने-अपने घर वापस चले गये थे। एकान्त में बैठकर मैं आनन्द लूट रहा था कि मालूम नहीं कहाँ से एक फ़क़ीर, जिसने मैले-कुचैले कपड़े पहन रखे थे, मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसे देख कर मुझे बड़ी हैरानी हुई। क्योंकि उस वक़्त समुन्दर का किनारा बिलकुल ख़ाली था। तो यह फ़क़ीर कहाँ से आ गये? मगर इस सवाल का तसल्लीबख़्श जवाब उस वक़्त मैं अपने आपको न दे सका। फिर उनकी इज़्ज़त करने की ख़ातिर मैंने अपने दोनों हाथ जोड़े और सर झुकाया। फिर मैंने उनसे बड़े अदब के साथ उनका नाम पूछा।

"मेरा नाम?" उन्होंने मेरा सवाल दोहराते हुए कहा—"मैं ख़ुद वह नहीं जानता, तो तुम्हें क्या बतलाऊँ?"

"आपने क्या फ़रमाया? मैं आपके कहने का मतलब कुछ समझा नहीं।" मैंने नम्रता से कहा।

उन्होंने जवाब दिया—"मैं ख़ुद भी तो जो कुछ तुम्हें कह रहा हूँ उसका पूरा-पूरा मतलब बड़ी मुद्दत तक नहीं समझ सका था। मगर हाल ही में एक ख़ुदा के बन्दे ने इसका मतलब मुझे समझाया है और तब से मैं दिन-रात अपने नाम की तलाश में इधर-उधर भटकता हूँ।"

"तो क्या मेहरबानी करके आप मुझे भी नाम का राज़ समझाएँगे?"

"क्यों नहीं!" उन्होंने जवाब में कहा—"क्योंकि जो कुछ एक ख़ुदा का बन्दा कहता है वह सब के लिए होता है। तो सुनो: हर एक आदमी के दो नाम होते हैं। एक वह जिससे दुनिया उसे बुलाती है या पहचानती है और दूसरा वह जिससे ख़ुदा उसे बुलाता है और पहचानता है। यह दूसरा नाम ही सच्चा नाम है। इनसान जो प्रार्थना पूजा करता है वह सिर्फ़ इसलिए ही कि किसी शुभ घड़ी में वह प्रभु को अपने को बुलाता सुन ले और इसी तरह अपना सच्चा नाम जान ले। हर एक के लिए ख़ुदा ने एक ख़ास नाम रखा हुआ है जैसे हर एक घर में माँ-बाप अपने बच्चों को अलग-अलग नाम से बुलाते हैं। दुनिया के लोग अकसर नाम पाने या करने की दौड़-धूप में लगे रहते हैं। क्या ही अच्छा हो अगर

वे अपना सच्चा नाम पाने या जानने के लिए रात-दिन तड़पें। मगर औरों से मुझे क्या मतलब मुझे तो अपना नाम तलाश करना है और इसी तलाश के सिलसिले में ही कभी-कभी मैं यहाँ इस समुन्दर के किनारे अकेला आधी रात गुजर जाने के बाद आया करता हूँ। आज तक तो मुझे यहाँ इस वक्त कोई नहीं मिला मगर मालूम नहीं तुम कहाँ से आज यहाँ टपक पड़े। क्या तुम भी अपने सच्चे नाम की तलाश में मेरी तरह इधर-उधर भटकते रहते हो?"

मैं कुछ जवाब न दे सका। सिर्फ मेरी दोनों आँखों से आँसू छल-छल बहने लगे और जब मेरी आँखें धुल कर कुछ साफ़ हो गईं तो मैंने आसमान के तारों की तरफ ताका और पूछा—"भला तुम ही मेरा सच्चा नाम बता दो।"

(५)

शाम का वक्त था। एक पहाड़ी की चोटी पर एक खुदा के बन्दे के इर्द-गिर्द कुछ लोग बैठे हुए थे। सब की आँखें डूबते हुए सूरज पर लगी हुई थीं। ज्यों ही सूरज डूब गया, उस खुदा के बन्दे ने अपना सर ऊँचा किया और आये हुए लोगों से पूछा—"यह खुशबू कहाँ से आ रही है?" उन का यह सवाल सुनकर सुनने वाले ज़रा हैरानी में पड़ गए, क्योंकि उनमें से उस वक्त किसी को भी किसी क़िस्म की खुशबू नहीं महसूस हुई थी। इसलिए उनमें से एक ने हिम्मत कर के थोड़ी देर के बाद जवाब दिया—"साहबे मन! यहाँ तो किसी किस्म की खुशबू हमें महसूस नहीं हो रही।"

"खूब रही।" खुदा के बन्दे ने कुछ मुसकरा कर कहा—"तुम कहते हो किसी किस्म की खुशबू तुम्हें महसूस नहीं हो रही और मुझे तो क़रीब एक आध घंटे से हर तरफ से गुलाब के फूलों की खुशबू ने समझो मस्त और मतवाला कर दिया है।"

"गुलाब के फूलों की खुशबू?" एक दूसरे की तरफ नज़र करते हुए उनके आस-पास बैठे हुए लोगों में से एक ने शक के लहजे में कहा।

"हाँ, हाँ" खुदा के बन्दे ने जवाब दिया—"गुलाब के फूलों की खुशबू! मगर तुम लोगों ने तो सिर्फ़ बाहरी बाग़ के गुलाब के फूल ही देखे हैं इसलिए तुम्हें तो किसी और क़िस्म के गुलाब के फूल का ख्याल ही क्या आ सकता है मगर हर एक इन्सान के अन्दर भी एक बाग़ है वहाँ क़िस्म-क़िस्म के फूल उगते हैं और उनकी खुशबू हर एक इन्सान को कभी न कभी महसूस होती ही है। जब वह किसी से सच्ची मुहब्बत करता है या किसी की सचाई से ख़िदमत करता है या किसी के लिए दिल व जान से क़ुरबानी करता है उस वक्त उसे इस अन्दरूनी बाग़ के फूलों की खुशबू महसूस होती है। अगरचे बहुत दफ़ा वह उसे पहचान भी नहीं सकता। उसे एक अजीब क़िस्म की खुशी मालूम होती है मगर वह नहीं जानता कि इस खुशी का मूल उसके अपने दिल के बाग़ की खुशबू ही है। इनसान की रूह क्या है? अगर वह एक फूल नहीं जिसे खुदावन्द-ताला ने अपने दिल के बाग़ में से उखाड़ कर उसके दिल में लगा दिया है, तो वह और क्या है; और मुहब्बत क्या है? इनसान की रूह की खुशबू। और जहाँ-जहाँ और जब-जब—जैसे कि इस वक्त तुम लोगों और मेरे बीच में बँधा है, एक रूहानी रिश्ता (दुनियावी रिश्ता नहीं) बँध जाता है तो उस वक्त इस अन्दरूनी बाग़ के फूलों की खुशबू लोगों को महसूस होती है।"

शिक्षा का मर्म

इधर पिछले कुछ बरसों से हमारी पाठशालाओं में एक नये विचार का प्रवर्त्तन हुआ है, जिसे संक्षेप में इस तरह कह सकते हैं कि शिक्षा में 'पढ़ाई' की अपेक्षा 'क्रिया' पर ज़ोर दिया जा रहा है। सम्भव है कि अभी इतने अर्से तक जो शिक्षक छात्र के मस्तिष्क पर ही आवश्यकता से अधिक भार लादे जा रहे थे और उसके सन्तुलन को बेडौल किये हुए थे, वे अब यह महसूस करने लगे हैं कि विद्यार्थी सिर्फ़ सिर-ही-सिर से नहीं बना होता, प्रत्युत उसके हाथ-पैर और हृदय भी होता है। लेकिन अब इससे पलड़ा बिलकुल दूसरी ही तरफ़ झुक गया है। पढ़ाई की ओर उदासीनता बढ़ती जा रही है और क्रिया-कलाप का बोलबाला उचित से अधिक होने जा रहा है। लेकिन साथ-ही-साथ शिल्प-साहित्य-संगीत की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है और आशा है कि शायद इस रास्ते मनुष्य के हृदय का अधिकाधिक उन्नयन हो सकेगा, जिससे सन्तुलन फिर ठीक हो सके।

जहाँ तक शिक्षा में 'क्रिया' का सवाल है, शिक्षा का ध्यान उसके एक सूक्ष्म पहलू की ओर शायद कम ही गया है। पाठशाला में शिक्षक अपने मस्तिष्क या हाथों का प्रयोग तो करता होता है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह स्वयं क्या है? अपने को क्या बना सका है? कारण, सच पूछा जाय, तो शिक्षा के मर्म में शिक्षक का व्यक्तित्व ही बड़ा होता है। दूसरे शब्दों में शिक्षक और छात्र के बीच एक जीवन्त योग होना चाहिए। प्राणों से प्राणों का सजीव सम्पर्क पढ़ाई या पाठ्य-विषय से ज़्यादा ज़रूरी है। इसलिए यह नितान्त अनिवार्य है कि शिक्षक अपने आपको अपनी हथेली पर रखकर परखे, पहचाने, अपने को तिल-तिल करके निरन्तर गढ़ता चले, पूर्णता का प्रयासी साधक बना रहे।

जब तक शिक्षक जाने अनजाने हमेशा अपने को इस तरह बनाता हुआ न चलेगा, तब तक उसकी किताबी योग्यता, उसकी उपाधियाँ छात्र के किसी काम न आएँगी। तब तक वह उनके निकट एक जीवन्त, प्राणवान पाठ्य-पुस्तक की तरह उनके चरित्र-गठन का सम्पादन न कर सकेगा। इतना ही नहीं, उसके अपने दोष और त्रुटियाँ उसके सँवारे

रूप के आवरण के नीचे से सिर उठाकर झाँका करेंगी और उसके बिना जाने विद्यार्थियों के संवेदनशील व्यक्तित्व को प्रभावित किया करेंगी। इसका प्रमाण खोजना चाहें, तो आप ईमानदारी से छात्रों की विशेष-विशेष ख़ामियों की जाँच करके देखें। आप पायेंगे कि इन ख़ामियों का सूत्रपात—हज़ार आँख की ओट होने पर भी—दरअसल अक्सर शिक्षक के व्यक्तित्व से ही शुरू हुआ करता है।

इस व्यवधान के लिए अकेला गुरु ही दोषी नहीं। जीवन-संग्राम के कठिन संघर्ष में उसे इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह अपने को इस तरह गढ़ सके, जिस तरह शिल्पी अपनी सामग्री को गढ़ता है। वह अपने चित्त, प्राण, बुद्धि और भावों का मनचाहा निर्माण करने योग्य सुयोग ही मुश्किल से पाता है। शिक्षा एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया है, समाज-सेवा का एक प्रधान माध्यम है, अतएव समाज भी इसका दोष-भाजन है। शिक्षक अधर में लटकनेवाला जीवधारी तो है नहीं। वह सामाजिक परिवेश में जीता है; उसी की मिट्टी, हवा-पानी और आर्थिक-नैतिक परिस्थिति से प्रभावित होता है। समाज की आशा-आकांक्षाओं, उसके आदर्श और व्यवहार अथवा गुण-दोष—सभी में उसका हिस्सा होता है। यदि समाज पैसे को अपना आराध्य अथवा उसे व्यक्ति की योग्यता का मानदण्ड समझता होगा, तो आश्चर्य नहीं यदि वह अध्यापक को भी समाज का एक अनुर्वर प्राणी-मात्र समझता हो!

यदि शिक्षक के व्यक्तित्व और विकास का कोई महत्त्व है, तो समाज अथवा सरकार का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रतिदिन अपने शिक्षक-वर्ग को इतना अवसर और अवकाश दे, जिससे वह अपनी आत्मा के आलोक में उठ-बैठ सके, उसके व्यक्तित्व का जो-कुछ श्रेष्ठ है, सत्य है, शिव और सुन्दर है, वह ओस और धूप में बढ़नेवाले फूल की तरह विकसित हो सके। तभी वह कवि की भाषा में गा सकेगा।

"मुझे देखनेवाली ये संख्यातीत आँखें मेरी ही हैं। इन्हीं आँखों के अनन्त आकाश में भटककर मैंने उस चिरपुरातन, सीमाहीन मुहूर्त्त को पाया है, जो ईश्वरीय है—मनुष्य में मैंने परमात्मा का संधान पाया है।"

समसामयिक भारतीय साहित्य का विकास

भारतवर्ष के नाना जनपदों का साहित्य एक ही मालिक की अधीनता में पलने-बढ़ने वाले उद्यानों की तरह है। अपने जाने में हो या अनजाने में, हमारे प्रांतीय साहित्यों को परिचालित करने वाली प्रेरणा युगों-युगों से इसी देश की विशिष्ट संस्कृति से आई है। यह संस्कृति सारे महादेश को एकता के सूत्र में गूँथने वाली संस्कृति और सामंजस्य की संस्कृति है। अथर्व के गायन ने आज से शताब्दियों पहले कहा था कि वे हम सबको अपनी चिन्ता और आनन्द का सहयोगी बनाने की भावना करते हैं।

"सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥"

—३—३०—७

यह ठीक है कि आज जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। आज का लेखक अपनी बुद्धि के अणु-वीक्षक यंत्र के द्वारा जीवन को देखता है और उसके असंख्य सूक्ष्म रूपों के प्रति आकृष्ट होता है। उसके मुग्ध नयन जीवन के अभिनय-दर्शन पर रीझे होते हैं। फलतः वह किन्हीं विशेष रूपों में ही उलझ जाता है जो जगत् के प्रति उसके भावों और विचारों का निर्माण करते हैं।

लेखक अपने आसपास की दुनिया की उपज होता है। न जाने किस अनादि काल से उसकी यह प्रान्तीय दुनिया देश की सभ्यता से प्रभावित होती आ रही थी। कुछ दशाब्दियों से इस सभ्यता के साथ पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक जीवन-दर्शन भी आ मिला जिसने प्राचीन संस्कृति में एक विक्षोभ ला दिया। रूढ़ियाँ विचलित होने लगीं।

लेकिन आज उसकी हालत बहुत-कुछ उस आदमी की तरह है जिसने पहली बार कोई नई शराब ढाली हो। वह अपने वश में नहीं, उसके पैर

लड़खड़ा से रहे हैं। नाना परिवर्तनशील प्रतिक्रियाओं में वह ठहरा नहीं पाता कि किन से मेल करे और किन से टकराये, किन्हें जोड़े और किन्हें छोड़े। इसीलिए समसामयिक भारत की प्रांतीय साहित्यसृष्टि का कोई स्थिर मूल्य आँकना इतना कठिन हो गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि उसे प्रभावित करने वाली शक्तियों में साधारण पाठक की बुद्धि और भाव उस पर गहरा असर डाल रहे हैं—इस साधारण पाठक की जिसे आज सबसे अधिक अर्थनैतिक या राजनैतिक चश्मे से देखा जाता है। यही कारण है जो आज का लेखक समुदाय अपने काव्य में, कहानी में, नाटक और निबंधों में उसी साधारण मनुष्य की लीला बखाना करता है। खासकर औद्योगिक केन्द्रों या व्यावसायिक बस्तियों के आस पास रहने वाला लेखक इसी भावना से परिचालित है। और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि किताबों में लिखा या छापा जाने वाला अधिकांश साहित्य आज प्रधान रूप से नगरों का साहित्य है।

लेकिन भारतवर्ष तो शहरों में ही नहीं बसा। उसकी माया और प्राण गाँवों में बसते हैं। खेत-खलिहानों की शोभा और सुरभि हमारे देश-भर में व्याप्त है। इन भारतीय गाँवों का मूल जीवन प्रायः वही है, उसमें कोई बुनियादी अन्तर नहीं आया। वे आज भी हलधारी हैं और आसमान के ताराओं से ही अपनी गणना करते हैं। उनकी बुद्धि पर आज भी अशिक्षा का मेघ छाया है उसके अन्धकार ने वैज्ञानिक सभ्यता को अपने घटाटोप में नहीं घुसने दिया। हमारा वर्तमान नागरिक साहित्य सर्वसाधारण के जीवन का प्रतिबिम्ब आज भी नहीं बन सका है। इसीलिए, हमारे प्रान्तों का साहित्य अधूरा है। एक तो इसलिए कि उसमें समूचे देश की जनता का हृदय नहीं धड़कता, राष्ट्रीय वैभव उसमें नहीं झाँकता; दूसरे इसलिए कि उसका आधार रुचि और आदर्श की किसी उत्तरोत्तर ऊँचे चढ़नेवाली सीढ़ियों पर से अग्रसर नहीं हो रहा—जीवन की किसी निर्दिष्ट रूपावली की बुनियाद पर नहीं खड़ा होना।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि [illegible] विभिन्न भाषाओं

के साहित्य की इकाई नगरों की वह सभ्यता या सीमित संस्कृति बनकर रह गई है जिसमें मनुष्य केवल पेट भरने की फिक्र में लगा है या राजनीतिक अधिकारों के पीछे पागल है। पेट और राजनीतिक का अपने आपमें कोई अत्यधिक मूल्य नहीं होता वे साधन हैं; साध्य नहीं। साध्य है मनुष्य का सर्वांगीण मङ्गल।

ऊपर जो आलोचना की गई है वह आलोचना नहीं, एक दृष्टिकोण है, एक सुझाव की सूरत है। भारतीय साहित्य में भारत की बहुविचित्र संस्कृति के मर्म में निवास करनेवाली एकता होनी चाहिये; भारत के ऐक्य की घोषणा होनी चाहिये। तर्क के दाँव-पेंच से हम इस सुदृढ़ ऐक्य को—सांस्कृतिक आधार को धुँधला नहीं कर सकते। यह ऐक्य नाना रूपों में अपनी छटा दिखा सकता है किन्तु ये रूप उसी एकता के वैभव को व्यक्त करते हैं जो एकता भारतीय नगरों से लेकर ग्रामों तक अन्तः-सलिला के समान धारावाहिक रूप से बहती आ रही है। साधक रज्जब जी की उस बानी को हम भुला नहीं सकते कि नाना प्रदीपों में नाना प्रकार के तेल ढाले जा सकते हैं; उनकी बातियाँ भी कई तरह की हो सकती हैं लेकिन जब उनकी लौ उठती है तो वह एक ही प्रकाश को अपने चारों ओर फैलाती है। हमें अपने प्रांतीय साहित्यों में इसी उज्ज्वल आलोक की आवश्यकता है।

प्रथम अखिल-भारतीय साहित्यकार-सम्मेलन*

छः अन्धे और एक हाथी की कहानी हमारे यहाँ स्कूल के विद्यार्थी भी जानते हैं। लेकिन उससे हमें जो नसीहत मिलती है, उसे विद्यार्थी तो क्या, बड़े भी अक्सर भूल जाते हैं। किसी व्यक्ति, विचार या घटना के केवल थोड़े-से अंश को ही प्रत्येक व्यक्ति देख या अनुभव कर पाता है---यह देखना चाहे बाहर की आँखों से हो या दिल की दृष्टि से---यही उस पुरानी कहानी की प्रधान शिक्षा है।

पी० ई० एन० के भारतीय केन्द्र ने इस बार अक्तूबर के उत्तरार्ध में जिस अखिल-भारतवर्षीय साहित्यकार-सम्मेलन का विशाल आयोजन किया था, उसे भी हम लोग विभिन्न दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। यह कोण कितने अंश का होगा, यह तो दर्शक की अपनी चारित्रिक विशेषता पर निर्भर करेगा। फिर भी इस बात पर तो सब लोग एकमत होंगे ही कि इस सम्मेलन का आयोजन अपने-आप में हमारे देश के समसामयिक साहित्य के इतिहास की एक स्मरणीय घटना हुई है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्मेलन में तीन प्रधान धाराएँ देखने में आईं और इनके प्रति सम्मिलित समाज की प्रतिक्रिया भी कई प्रकार से हुई। ये धाराएँ साहित्य-सृष्टि की आत्मा तथा अर्थशास्त्र के प्रश्नों को लेकर उठी थीं। वाणी के प्रजातन्त्र के अनुभवी सयानों ने यह घोषणा की कि सृजन की शक्ति सत्य के सौन्दर्यमय दर्शन में ही निहित है; रचना की शर्त सौन्दर्यमय सत्य का साक्षात्कार है। दूसरी ओर नव्य उत्साहियों ने अपना स्वर ऊँचा किया कि सत्य को दीवानखाने के बाहरी हिस्से में तब तक वे

---

*यह सम्मेलन सन् १९४९ में श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में जयपुर में हुआ था।

लिए रोक रखना होगा, जब तक कि हमने अपनी ज़मीन का चप्पा-चप्पा न जाँच लिया हो—अर्थात् वास्तु-सत्य की पूरी-पूरी पड़ताल सृष्टि के लिए सबसे पहले आवश्यक है। जो लोग इन दोनों दलों के बीच मध्यममार्गी थे, उन्होंने रोटी और सौन्दर्य, पेट की भूख और आत्मा की क्षुधा—दोनों की महिमा स्वीकार की। साहित्यकारों के सम्मेलन में प्रतिनिधित्व करनेवाले कवियों, दार्शनिकों, सम्पादकों, कहानीकारों—सभी ने अपने-अपने ढंग से उपर्युक्त तीनों धाराओं का संचालन किया। (कुछ ऐसे भी वहाँ थे, जो न-कुछ होते हुए भी सब-कुछ बन गए थे)। जो हो, सभी प्रकार के मानदण्डों पर विचार किया गया और विचार-विनिमय हुआ।

इन तीनों धाराओं को उस समय सबसे अधिक स्पष्टता से उपलब्ध किया गया, जब भारत की विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक प्रगति का सिंहावलोकन किया गया। यह भी एक प्रकार से एक अपूर्व घटना थी। सम्भवतः पहली बार सभी साहित्यिक एक ही कुटुम्ब के विभिन्न सदस्यों की भाँति एकत्र हुए थे। सबने मिलकर अनायास ही तुलना की कि अन्यान्य क्षेत्रों में लोग क्या कर रहे हैं, हवा का कैसा रुख है। सबने अनुभव किया कि एक ही ज़मीन के वे सभी खेतिहर हैं—खेती चाहे अलग-अलग चीज़ों की हो और उसका तौर-तरीका भी अलग हो। जो लोग शिल्प की दृष्टि से साहित्य से सम्बद्ध थे, वे भी उपस्थित थे और जो वाणिज्य की दृष्टि से उससे विजड़ित थे, वे भी। इस प्रकार भी यह सम्मेलन अपूर्व था।

किन्तु क्या साहित्य-सृजन शिल्प है अथवा वाणिज्य? वह ज़माना लद गया, जब कि साहित्यकार को किसी-न-किसी राजा या धनीमानी व्यक्ति अथवा किसी एकेडेमी का आश्रय सुलभ था। आज वह उन आश्रय-दाताओं की प्रसन्नता की उपेक्षा कर सकता है और अपनी आत्मा के निभृत एकान्त में रचना करता रह सकता है। किन्तु आज उसे जीविका भी तो जुटानी पड़ती है। और चूँकि वर्तमान समाज उसे आज भी

अपना कोई उपयोगी या अपरिहार्य अंग नहीं मानता, इसलिए आज का साहित्यकार केवल साहित्य-रचना को ही जीविका का साधन नहीं मान सकता। लिखना आज भी उसके लिए एक विनोद की सामग्री है, जिसे अंग्रेजी में 'हॉबी' कहते हैं। बाजार में इस लिखावट का खास कोई मूल्य नहीं। लेकिन क्या मूल्य होना भी नहीं चाहिए? वह तो अमूल्य है! तब क्या शोषकवर्ग के अन्याय से उसकी रक्षा भी नहीं करनी चाहिए? सम्भवतः वृद्ध मनीषी कार्लाइल ने ही तो कहा था कि 'दुनिया केवल लूटनेवाले की दूकान नहीं है।' इस सम्मेलन ने एक होकर स्थिर किया कि साहित्यकार के 'स्वार्थों' की समुचित रक्षा होनी चाहिए; उन्हें अपने श्रम का उपयुक्त पारिश्रमिक मिलना चाहिए। इस माँग को उपस्थित करने का समय आ पहुँचा है। कापीराइट-विषयक कानून पर विचार करने के लिए सम्मेलन ने ऐसे सदस्यों की एक सब-कमिटी संघटित की, जो साहित्य के भी जानकार हैं और कानून के भी। यह इस सम्मेलन की तीसरी विशेषता थी।

चौथी खासियत यह थी कि देश और विदेश में भारतीय साहित्य के प्रचार तथा परिचय के लिए सम्मिलित प्रयत्नों की आवश्यकता महसूस की गई। प्रामाणिक अनुवादों की जरूरत को सबने स्वीकार किया। इस उद्देश्य से एक सामयिक पत्र के प्रस्ताव पर विचार किया गया, जिसमें साहित्यकारों की फुटकर रचनाओं के अनुवाद छपते रहें—पुस्तकाकार छपने की बात तो सर्वसम्मति से पास हो ही गई। एक सुयोग्य उपसमिति इन सब प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार करने के लिए गठित हुई। एक विश्वकोष की रचना का प्रस्ताव [illegible] और साहित्यिक दोनों वर्गों के लिए [illegible] हो सके। देश की विभिन्न भाषाओं के [illegible] होगा और भारतवर्ष की सभ्यता तथा संस्कृति का संश्लिष्ट परिचायक होगा। इस प्रकार नाना दृष्टियों से देश के आदर्शवादी और यथार्थवादी, अतीत के प्रशंसक और वर्तमान के पक्षपाती, पुराने और नये, अनुभवी और

संस्कृति क्या है ?

संस्कृति का अर्थ है सत्यं, शिवं, सुन्दरं और अद्वैतम् के लिये अपने मस्तिष्क और हृदय में आकर्षण अनुभव करना, उनसे प्रेम करना और अभिव्यंजन के द्वारा उनकी प्रशंसा करना। हर एक व्यक्ति कभी न कभी उनकी तरफ़ आकर्षित तो होता ही है; लेकिन उस आकर्षण को स्थायी रूप से अनुभव करना और आकर्षण के कारण जो अध्यात्मिक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनको रूप देना बहुत कम लोग जानते हैं। ऐसी शक्ति तो केवल प्रभु की कृपा का फल ही है। जैसे हिमालय पर्वत के शिखर पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो सुन्दर दृष्टि को बाहर की आँखों से तो सब देख सकते हैं और आनन्दित भी हो सकते हैं, लेकिन उन आनन्द को नृत्य या गीत या चित्र या साहित्य के रूप में प्रकाश करने की शक्ति कितनों में है? और अगर यह भी कहा जाय कि ऊपर आँख करके उस सुवर्णमयी चोटी को देखते ही कितने लोग हैं, तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि सच तो यह है कि स्वार्थ के दबाव से हमारी आँखें हमेशा जमीन की तरफ़ ही लगी रहती हैं और हम भूल जाते हैं कि आकाश में तारे चमकते हैं और बाग़ में फूल खिलते हैं और समाधि में प्रभु का परस मिलता है— अर्थात् कमल की तरह कीचड़ से ऊपर उठ कर सूरज की दिशा में मुँह करना हम नहीं जानते।

लेकिन यह कमल कैसा ?

यह कमल वह है जो युग-युगान्तर से आत्मा के उद्यान में खिलता आ रहा है। उसका खिलाने वाला प्रभु है। धन्य है वह शक्ति जिसे इस कमल की ख़बर मिली है या जिसने उसकी सुगन्ध को आघ्राण किया है या उसकी शुभ्र ज्योति को देखा है।

हमारे मध्ययुग के साधु-सन्तों ने इस कमल को न केवल देखा था,

बल्कि उसकी ख़बर सबको पहुँचाने की कोशिश भी थी। उनका अपना अध्यात्मिक जीवन तो सर्वदा सुगन्धित था ही, उन्होंने भारत के प्राणों को भी सुगन्धित कर दिया, और उनकी साधना की सुगन्ध अब तक हमारे गाँवों में पायी जाती है। मेरा तो अपना यह विश्वास है कि अगर गाँवों के लोगों में प्रभु के प्रति प्रेम अब तक पाया जाता है तो वह उन साधु-सन्तों की साधना का ही फल है। उन्होंने तो दैविक-कमल या सद्विचारों और सद्-व्यवहार के बीज जगह-जगह बो दिये और जिस जिसने उस बीज को खाद दिया उसका बीज अंकुरित हुआ और उसने उस कमल की सुगन्ध और सौंदर्य दोनों की ख़बर पा ली।

इसलिये संस्कृति को आत्म-कमल का खिलाना ही कह सकते हैं। किसी मनुष्य की मानसिक शक्ति या हाथ का कौशल कितना ही ऊँचे दर्जे का क्यों न हो, उसको संस्कृति का सच्चा पुजारी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संस्कृति का सच्चा पुजारी वही हो सकता है जो अद्वैतम् का आदर्श सामने रखता है और अपनी हर एक कृति में या अपने हर एक कर्म में उसका प्रमाण देता है। यह इसलिये कहना पड़ता है क्योंकि देखा गया है कि मानसिक शक्ति वाले द्वैत भाव को ज्यादा बढ़ाते हैं और बजाय जो एक है उसकी याद दिलाने के (वह एक सत्य हो या भगवान् हो) अपनी ही तरफ़ ज्यादा ध्यान खींचते हैं और ऐसे 'मैं' और 'तू', 'मेरी' और 'तेरी' का मन्त्र और भी ऊँचे स्वर से रटते हैं और औरों को भी रटना सिखाते हैं।

संस्कृति का उपासक बेशक सत्यं को देखे, सुन्दरं को देखे, शिवं को देखे, लेकिन उन सब को अद्वैतम् की खिड़कियां समझकर ही देखे, नहीं तो वह संस्कृति का सच्चा और सीधा रास्ता भूल जायगा और उसकी कृतियाँ भूल-भुलैयाँ का एक खेल बन जायेंगी।

संस्कृति और साधना

संस्कृति और साधना उस अखण्ड सत्य के दो पहलुओं का नाम है, जिसे हम 'जीवन का सत्य' कह सकते हैं। और जीवन के सत्य की व्याख्या करने जायँ, तो हमें कहना पड़ेगा कि उसका अर्थ उस जीवन-प्रणाली से है, जो सत्य की गोद में पलती-बढ़ती है, उसी से अनुप्राणित होती है।

किन्तु फिर यह 'सत्य' क्या है ? कहते हैं, आज से प्रायः बीस शताब्दियों पूर्व पाइलेट ने प्रभु यीशु से यही सवाल किया था, जिसे मानव आज भी सुलझाता आ रहा है। शताब्दियाँ ही क्यों, युग-युगान्तर से हम इसी एक प्रश्न का उत्तर सुनने की बाट जोह रहे हैं। इतिहास में पाइलेट ही प्रथम प्रश्नकर्ता नहीं है, जिसने यह सवाल छेड़ा था। वस्तुतः असंख्य जिज्ञासुओं ने यही प्रश्न सदा अपने गुरु अथवा आत्मा या अपने ही अन्तर में निवास करनेवाले उच्चतर व्यक्तित्व से उसी विनीत भाव से पूछा है, जिस भाव से पाइलेट ने प्रभु यीशु से पूछा था।

इसका और भी एक पहलू है। अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी योग्यता और विशेषता के अनुसार मानव-विकास के आदि-काल से लेकर आज तक हर व्यक्ति इसी सर्वोपरि प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अन्धकार में टटोलता फिरा है : 'सत्य क्या है ?' मानव-चित्त जितना विविध और विचित्र है, उतने ही विविध और विचित्र इसके उत्तर भी होते आए हैं। इसीलिए सत्य किसी का एकाधिपत्य नहीं है। जैसा कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने एक बार कहा था : 'सत्य महानतम गुरु से भी महान् है।'

किन्तु सत्य की इन विभिन्न परिभाषाओं और वर्णनाओं के भीतर प्रत्येक जिज्ञासु को न्यूनाधिक परिमाण में इस बात का अवश्य अनुभव होता है कि सत्य उसकी मनगढ़न्त कल्पनाओं, सम्बन्धों या धारणाओं से बड़ी चीज है। अतएव चाहे वह उसे कार्य-रूप में परिणत न कर पाए

फिर भी हृदय में उसे स्पष्टतया यह अनुभव होता है कि सत्य की उपलब्धि के लिए मन के मानदण्डों को पार करना जरूरी है। पतञ्जलि ने कहा है कि 'चित्तवृत्ति का निरोध करना होगा।' चित्तवृत्ति से उनका अर्थ है मनस्, चित्त, अहंकार और बुद्धि से, जिनका कार्य क्रमशः जानना, विचारों को व्यष्टि के रूप में देखना, अपने को आत्मा के साथ एक करना और विवेक के प्रकाश में पथ-निर्वाचन करना है। दूसरे शब्दों में मन के चमकदार बन्धनों से मुक्ति होने पर ही सत्य के साक्षात्कार की राह खुलती है। मनुष्य का यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि हम में से अधिकांश अपने इन बन्धनों से उसी तरह चिपटे हैं, जिस तरह गुलाम अपनी जंजीर से।

तथापि संस्कृति एवं साधना दोनों का सर्वोच्च प्रयास यही मुक्ति है। दोनों का प्रयत्न अपने-अपने स्तर पर मन की माया से आत्मा की निष्कृति प्राप्त करना है। प्राच्य देशों ने विश्वास किया है कि जो 'बुद्ध' हैं, उन्हें 'माया' के गर्भ से ही जन्म लेना होगा। इस कहानी में कदाचित् इसी गोपन रहस्य की ओर संकेत के दर्शन होते हैं। साधना का मूलमन्त्र है : 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। सर्व सत्य, सर्व ज्ञान, सर्व आनन्द और सर्व कर्मों के नियन्ता की ही इच्छा पूर्ण हो, जिससे विश्व-संगीत के अनन्त स्वरों की संहति भंग न हो। और संस्कृति कहती है, स्वार्थ का केन्द्र उठकर सर्वहित के वृत्त में विलीन हो जाय, जिससे समाज के व्यापकतर मंगल-विधान की रक्षा होती रहे। सामूहिक कल्याण का पथ प्रशस्ततर होता चले। इस प्रकार साधना और संस्कृति दोनों हमें ससीम से असीम की ओर प्रेरित करती हैं। इसीलिए दोनों में एक आन्तरिक ऐक्य—अर्थात् साधना के भक्तों और संस्कृति के अनुरक्तों को मिलकर मंगल-विधाता के उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है। जैसा कि गांधी जी कहते थे, धर्म और धर्मनियन्ता में भेद नहीं। इसीलिए साधना एवं संस्कृति दोनों को मनुष्य के लिए एक ऐसी व्यवस्था और अभ्यास का विधान करना होगा, जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में इसी

अभेद को प्रकाशित कर सके। इसी में उनकी सार्थकता भी निहित है।

इन अभ्यासों का मर्म है मुक्ति में; मन की जादूगीरी, ज्यादती अथवा स्वप्नावली से रिहाई में। और जो इस पथ के पथिक हैं, वे ही जानते हैं कि यह रिहाई पीड़ाकी कितनी बड़ी क़ीमत पर मिलती है। अवश्य ही इस दर्द में एक पवित्र, मीठी और मधुमयी मिठास भी है—वह मिठास, जो प्रेमी को प्रिय के वियोग की व्यथा में भी अनुभव होती है। इस माधुर्य का आविर्भाव इसीलिए होता है कि व्यक्ति सारे विश्व का केन्द्र अपने में न समझकर अपने से बाहर भी ताकता-झाँकता है; अपने सुख-दुःखको सर्व सुख-दुःख का एक अंग मानता है। और तब एक ऐसा समय भी आता है, जब वह अहं के जाल से मुक्ति पाने की इच्छा और इस मुक्ति की प्राप्ति की अनिवार्य वेदना में कोई अन्तर नहीं पाता ; जब एक-दूसरे का पर्याय बन जाता है। और यह वेदना इसलिए मधुर है; क्योंकि इसमें नवीन जन्म की प्रसव-वेदना छिपी हुई है। माँ के गर्भ में सुरक्षित शिशु इसी मुक्ति की आकांक्षा से अपनी उस निरापद सुरक्षा का त्याग करता है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसीलिए कहा था—"मुक्ति का रहस्य उस पीड़ा में है जो पुनीत है, जिसका स्वर सीमाहीन की झंकार से एक है, जिसमें आत्म-प्रवंचना का कौशल मिट चुका होता है और जो अपनी व्यर्थ कामनाओं के पिंजरे को सहर्ष धूल में फेंक देता है।"

'मूकवाणी' के रचयिता कवि ने भी इसी स्वर में गाया है :

"सावधान रहना कि कहीं धरती की धूलि
आकाश को आच्छादित न कर ले।
चरम मुक्ति की राह तुम्हारे ही अन्तर में छिपी हुई है,
जिसका आदि और अन्त तुमसे बाहर है।"

(—'वॉयेसेज़ ऑव् दि साइलेंस')

शांति का एकमात्र मार्ग

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की एक कविता में पूछा गया है, "ज्योति कहाँ है?" और उसके उत्तर में कवि स्वयं ही कहते हैं, "ज्योति तुझे आकांक्षाओं की बत्ती जलाने से नहीं मिलेगी। अगर तुझे ज्योति चाहिए तो तू अपने जीवन की बत्ती को प्रेम से जला।"

इसी तरह ही जो लोग प्रश्न पूछते हैं, "शांति कहाँ है?" उन्हें जवाब दिया जा सकता है, "अगर तुम्हें शांति चाहिए तो अपने जीवन को प्रेम से उज्ज्वल करो।" प्रेम का गुण ही है सबको एक-दूसरे के साथ मिलाना। धर्म का भी यही गुण है। और जहाँ लोगों के दिल मिले हुए हैं, वहाँ शांति अवश्य होगी, कारण कि शांति अपने अहं के शांत करने से मिलती है और प्रेम भी तभी हमारे हृदय में जाग्रत होता है जब हम अपनी खुदी को खाक में मिला देते हैं।

आज अगर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में अशांति फैली हुई है तो उसके मूल में खुदी का खमीर है, जो उसे दिन-प्रतिदिन और अधिक फुलाता है। तात्पर्य यह कि हमारी आकांक्षाओं का कभी अंत नहीं होता। वे एक गुब्बारे की तरह फूलती ही जाती हैं।

आजकल आर्थिक जगत् में पुकार है कि हर चीज को आग लगी हुई है, अर्थात् उसकी कीमत बढ़ती ही जा रही है। इसी तरह नैतिक जगत् में पुकार है कि इन्सान का अहंकार बढ़ता ही जा रहा है। ऐसे ही राजनैतिक जगत् में पुकार है कि प्रत्येक देश की हकूमत अपनी शक्ति बढ़ाने में ही दिनरात लगी हुई है। इन सबका एक ही कारण है—और वह है खुदी का बेहद बढ़ जाना (Ego-inflation)।

और जहाँ खुदी ने किसी के दिल में एक बार घर कर लिया तो फिर खुदा, जो शांतिमय और प्रेममय है, घर से बाहर निकल जाता है।

इसीलिए, कई बरस हुए, कविवर रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम की सभ्यता का उल्लेख करते हुए कहा था, "जबतक पश्चिम प्रभु के पास नहीं आयेगा, वह शांति को कभी प्राप्त नहीं करेगा।" और यह बात पूर्व की मौजूदा सभ्यता पर भी लागू होती है।

तो फिर प्रभु के पास कैसे जाया जाय? प्रेम का 'पासपोर्ट' लेकर; क्योंकि वही एक 'पासपोर्ट' है जो उस राजाओं के राजा के दरबार का दरवाजा खोल देता है और प्रेम का 'पासपोर्ट' तभी मिल सकता है जबकि उसमें अपना नाम लिखवाते समय यह भी लिखवा दिया जाय—"ख्वाहिश खतम शुद!"

शांति को पाने का यही एक रास्ता है।

अलविदा, शान्तिनिकेतन !

आज से लगभग २७ वर्ष पूर्व, अपनी अनेक प्रार्थनाओं के पुण्य-प्रताप से, मैंने पहली बार शान्तिनिकेतन के उपवन में कविगुरु रवीन्द्रनाथ टाकुर के दर्शन किये। उनके संस्पर्श में आते ही मेरे अन्तर की सुप्त आध्यात्मिक पिपासा जाग उठी। मैंने पल-भर में ही अपने जाति-अभिगत संस्कारों को अपने चित्त के ऊपर से खिसक कर दूर जाते हुए अनुभव किया। मैं नम्रतापूर्वक अपने को इस दृष्टि से 'द्विज' ही कहना चाहता हूँ। कविगुरु के ही शब्दों में, जिस तरह पक्षी अण्डे के कठिन आवरण को भेदकर आकाश के आलोक और अवकाश में प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही मैंने भी अपना नवजन्म-जैसा लाभ किया। कविगुरु मेरे आध्यात्मिक गुरु बन गये। तब से मैं उनकी प्रीति के प्रकाश में और प्रकाश की प्रीति में पला-बढ़ा हूँ तथा 'उसकी' झाँकी पाने के लिए व्याकुल रहा हूँ, जो इस सबसे परे होकर भी इस सबके साथ एकात्म है। कवि के प्रति मेरी कृतज्ञता इसीलिए गहरी है। वस्तुतः इस ऋण का कभी शोध नहीं हो सकता।

सन् १६१६ के शान्तिनिकेतन में पुराकाल के तपोवनों की शोभा और सौरभ का संचार बना हुआ था। पारस्परिक मिलन का जो विश्व-व्यापी छन्द है, उस छन्द की एक अनुभूति—एक झंकार—शान्तिनिकेतन में तब भी सुलभ थी। प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनुक्षण उस सौन्दर्य-स्रष्टा का बोध करा देते थे, जिसके जादू से कवि पागल हो उठे थे।

तब से आज तक कितने हेर-फेर हो गये हैं। शिल्पी के नीड़-जैसा ब्रह्मायतन शान्तिनिकेतन आज एक विश्वविद्यालय बन बैठा है। सरलता को [illegible] ने नगर की गरिमा ग्रहण कर ली है। जाति-वालिक दृष्टि से आज का शान्तिनिकेतन एक छोटा-सा भारतवर्ष जैसा है।

सांस्कृतिक पहलू से वह छोटे-मोटे एशिया की तरह है। उसकी आकांक्षा पूर्व-पश्चिम की मर्म-वाहिनियों का संगमस्थल बन जाने की है, और आर्थिक दृष्टि से आज के आश्रम का 'रोज़गार चल निकला है।' धीरे-धीरे—लेकिन सुस्पष्ट रूप में—शान्तिनिकेतन एक खासी संगठित संस्था का रूप ग्रहण किये जा रहा है, जहाँ मधुचक्र की तरह काम-काज का अवकाशहीन गुंजरण फैलता जा रहा है। आज यहाँ के कार्यकर्त्ताओं के पास ऐसा समय नहीं कि वे किसी नवजात कुसुम को देख ठिठककर खड़े रह जाएँ या मेघों की सजीली बारात की रंगीनी को निहारा करें अथवा तितली की तरह आकाश के आलोक से अपने मन-प्राण के हर तार को झंकृत कर सकें। पुराने दिनों का वह वातावरण, जो अन्तरतम की गम्भीरतम और उच्चतम अभीप्सा को अपने सुकुमार करों से छूकर जगा देता था, आज या तो मिटता जा रहा है या रोज़मर्रा के यान्त्रिक काम-काज के अन्धे वेग से घबराकर चुपचाप दूर सरकता जा रहा है। अतएव जहाँ मनुष्य को प्रकृति ने अपनी शान्ति और पुण्य की छाया-तले परम मंगल की साधना के लिए बुलाया था, वहाँ आज यह पुकार पुराने ज़माने की कोई अनुश्रुति बन कर ही रह गयी है या बनने जा रही है। रह-रहकर कवि वर्ड्सवर्थ की व्यथा-भरी यही उक्ति याद आती है : The world is too much with us.'

शायद कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के तकाज़े को पूरा करने वाले तपोवन के लिए इस युग में अब जगह नहीं रही। किन्तु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कवि ने आजीवन इसी आशा और आश्वास को अपने जी में सँजोया था कि ऐसा तपोवन आज भी सम्भव है। सम्भव है कि उनके वर्त्तमान अनुगामी लोग अथवा प्रतिनिधिगण अपने भीतर उस प्रकार के विश्वास और श्रद्धा का अनुभव ही न कर पा रहे हों, जिसका स्पर्श पाकर ही सपने साकार होते हैं, सुदूर की आशा अदूर का सत्य बन पाती है।

सच तो यह है कि पारस्परिक सम्मिलन के निगूढ़ गतिमान छन्द से

वर्द्धमान संस्था का संचालन करना बखूबी सम्भव है। कवि को इसमें ज्वलन्त विश्वास था। किन्तु हाय, उसके स्थान पर आज हम हर विभाग में एक प्रकार का सूक्ष्म अकेलापन अनुभव कर पाते हैं। यह तो अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर चलने वाली उस संकीर्ण जातीयता का ही संक्षिप्त रूप है, जिसके खिलाफ़ कविगुरु आजीवन प्रबल युद्ध करते रहे। अतएव हमें भय है कि कहीं अन्य स्थानों की तरह शान्तिनिकेतन में भी मशीन मनुष्य से बड़ी न बन बैठे, साधन स्वयं साध्य न बन जाएँ, उपलक्ष्य लक्ष्य की जगह दखल न कर ले।

विश्वभारती के विभिन्न विभागों का कर्मस्थान प्रायः एक ही जगह है; किन्तु आज यही भौगोलिक सान्निध्य भीतर ही भीतर शायद एक प्रकार की सूक्ष्म सतर्कता को बढ़ा रहा है। ऐसे में शंकित साही की तरह अपनी सत्ता का हर काँटा खड़ा रखने का सशंक सजग भाव बढ़ने का भय रहता है। सीमाहीन की याद भूलने लगती है। आज वातावरण के भीतर उस गोपन जादू का बोध नहीं होता, जो पुराने दिनों में अनन्त की व्यंजना किया करता था, जिसके विस्तार में अनेकता अपनी अन्तर्निहित एकता को ही व्यक्त किया करती थी, अपनी-अपनी विशेष सेवा अथवा दान की सरिता को एक ही प्रशान्त सागर में प्रवेश कराने का सुख पाती थी—जब व्यक्ति की चेष्टा परम की इकाई की ओर अभिमुख होना चाहती थी।

आज शान्तिनिकेतन चौराहे पर आ खड़ा हुआ है। उसे अपने पथ का चुनाव कर लेना है और जल्दी ही करना है। जब देवता किसी का तप भंग करना चाहते हैं, तो बचाव के लिए उसे अधिक अवसर नहीं देते। बाधाओं और बाधकों की वाहिनी एक ही साथ आक्रमण करती है। इसीलिए हमें अपना पथ-निर्वाचन जल्दी ही कर लेना होगा। क्या हम भौतिक विस्तार, विकास या बौद्धिक प्रगति के मृगजल के पीछे ही दौड़ेंगे या, जैसा कि विश्वभारती के प्रतिष्ठाता आचार्य ने चाहा था, आश्रम को प्रधान रूप से—केन्द्रीय रूप से—आत्मा के जागरण का, उद्बोधन का, तीर्थस्थल मानेंगे? क्या हम शान्तिनिकेतन के मूल संस्थापक, कवि के

-पितृदेव, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का स्मरण करेंगे, जिनका जीवन उन्नी-सवीं शताब्दी के वैभव-विलास और पदार्थ बहुल सभ्यता का जीवन्त प्रत्याख्यान था, स्थूल पर आत्मा की विजय का साक्षात् द्योतक था ? यदि हमने समय रहते रास्ता न चुना, तो शान्तिनिकेतन का मौलिक स्वरूप—'गृह और मन्दिर का समन्वित रूप'—देखते-देखते मिटने लगेगा : गृह और उसकी आतिथेयता का स्थान यजमान की श्रद्धा के अभाव में सराय का चौकीदार ग्रहण कर लेगा या बोर्डिंग-हाउस के वार्डेन दखल कर बैठेंगे और मन्दिर की जो हालत होगी, उसे कवि ने ही स्वयं बड़े चुटीले ढंग से व्यक्त किया था :

"रथयात्रा की भीड़ में धूमधाम सब ओर।
पथ पर झुक-झुक भक्तजन करते प्रणति अथोर॥
पथ-रथ-मूर्त्ति सभी यही सोचें : 'मैं हूँ देव'।
अन्तर्यामी देवता हंसते लखकर भेव॥" ('कणिका' से)

श्रीनिकेतन के सेवायतन में भी किसान और मजदूर की आत्मा के साथ चिर-ग्रथित हल और चरखे का घरेलूपन मिटता जाएगा। लाभ और लोभ के बीच का व्यवधान बड़ा सूक्ष्म होता है।

विश्वभारती के जल का स्रोत सब प्रकार से एक विशाल प्रतीक के समान है—यथार्थ में भी और लाक्षणिक भाषा में भी। वह स्रोत चिर-प्रवहमान है। किन्तु ऐसा न हो कि जब भी तृषित व्यक्ति अपनी प्यास बुझाने आये तभी पानी के नल को बिगड़ा हुआ पाये।

शान्तिनिकेतन में सप्तपर्णी का वह वृक्ष आज भी वर्त्तमान है, जिसकी छाया में बैठ कर महर्षिदेव ने अनन्त आत्मा का प्रथम संस्पर्श पाया था। वहीं शान्तिनिकेतन का मर्म है। वहाँ से उठ कर यदि हमारी साधना का केन्द्र दफ्तर की चहारदीवारी में बन्द हो गया, यदि लाल फीते से बँधे बही-खाते के पृष्ठों में ही उलझ कर रह गया, तो सुदूरव्यापी सीमाहीन आकांक्षा का दम ही घुट जाएगा, 'सुदूर की पिपासा' अतृप्त ही रह जाएगी। बाहर की दृष्टि आज चूना-सुरखी और ईंट के आवासों में अटककर रह

जाती है, क्षितिज पर मौन खड़े हुए तालवृक्षों तक पहुँचने में बाधा पाती है। ऐसा न हो कि अन्तर्दृष्टि भी अपने दिगन्त तक प्रसारित न हो पाये, इस कोलाहल को बीच से चीरते हुए अपने मौन लक्ष्य तक पहुँचने में रुकावट का अनुभव करे। ऐसा होना तो नहीं चाहिए, क्योंकि शान्तिनिकेतन की नींव बहुविध अध्यात्म-साधनाओं के सुदृढ़ आधार पर डाली गयी थी, साधकों ने अपना श्रेष्ठतम दान यहाँ की हवा में भर दिया था। किन्तु आँधी-पानी के समय सावधानी बरतनी होती है, और आँधी के ज़ोर को देखते हुए आशंका अस्वाभाविक नहीं मालूम होती।